श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

20



२० वाँ खण्ड

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

To: Bishnu Das Malv.
Pin: 742133.

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(बीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥



लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

द्वितीय संस्करण] वैशाख, सं० २०२१ वि० [मू० १.२५ न० पै०

॥ श्रीहरिः ॥

श्री बद्रीनाथ-दर्शन

(श्रीब्रह्मचारीजीका एक अपूर्व महत्वपूर्ण ग्रन्थ)

श्रीब्रह्मचारीजीने अनेकों बार श्रीबद्रीनाथजी की यात्रा की है। यात्रा ही नहीं की है, वे वहाँ महीनों रहे हैं। उत्तराखण्डके छोटे बड़े सभी स्थानों में वे गये हैं उत्तराखण्ड कैलाश, मानसरोवर, शतोपन्थ, लोकपाल और गोमुख ये पाँच स्थान इतने कठिन हैं कि जहाँ पहाड़ी भी जाने से भयभीत होते हैं। उन स्थानों में ब्रह्मचारीजी गये हैं वहाँ का ऐसा सुन्दर सजीव वर्णन किया गया है, कि पढ़ते-पढ़ते वह दृश्य आँखों के सम्मुख नृत्य करने लगता है। उत्तराखण्ड के सभी तीर्थों का इसमें सरस वर्णन है, सबकी पौराणिक कथायें हैं। किंवदन्तियाँ हैं, इतिहास हैं और यात्रावृत्त हैं। यात्रा सम्बन्धी जितनी उपयोगी बातें हैं सभीका इस ग्रन्थमें समावेश है। बद्रीनाथजी की यात्रा पर इतना विशाल महत्वपूर्ण ग्रंथ अभी तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ। आप इस एक ग्रंथ से ही घर बैठे उत्तराखण्ड के समस्त पुण्यस्थलों के रोमाञ्च-कारी वर्णन पढ़ सकते हैं। अनुभव कर सकते हैं। यात्रा में आपके साथ यह पुस्तक रहे तो फिर आपको किसी से कुछ पूछना शेष नहीं रह जाता। लगभग सवा चार सौ पृष्ठ की सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४.०० रुपया मात्र है थोड़ी ही प्रतियाँ हैं, शीघ्र मँगावें दूसरा संशोधित संस्करण छप गया है।

विषय-सूची

विषय | पृष्ठाङ्क

चित्र-सूची

भूमिका

भक्ति की महिमा

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तम् ।
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ॥
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च ।
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥❀
(श्री भा० ११ स्क० ११ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

उर उपजे हरि भक्ति भक्त अद्भुत है जावे ।
कबहूँ रोवे हँसे विकल बनि नाचे गावे ॥
हरि कूँ सब महँ निरखि चराचर सेवक माने ।
सबके छूवे चरन नीच अपने कूँ जाने ॥
कथा कीर्तन महँ सतत, लग्यो रहे हरि हृदय धरि ।
त्रिभुवन कूँ पावन करहिं, नर अहैतुकी भक्ति करि ॥

पाठकों का अत्यन्त आग्रह है, कि प्रत्येक खण्ड में भूमिका

❀ श्रीभगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"हे उद्धव ! मेरी भक्ति के कारण जिसकी वाणी गद्गद् हो जाती है, चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी तो बार बार रोता है, कभी हँस पड़ता है। उच्च स्वर से सङ्कोच छोड़कर कभी गाने लगता है, कभी नाचने लगता है। इस प्रकार मेरी भक्ति से युक्त पुरुष त्रिभुवन को पुनीत बना देता है।

अवश्य हो और साथ ही अपना अनुभव भी।

यह तो मैं नहीं कह सकता कि मुझे कुछ अनुभव नहीं हुये हैं, अनुभव मुझे हुये हैं, किन्तु कटु अनुभव हुए हैं, उनसे भक्ति मार्ग के पथिकों को निराश हो होना पड़ेगा। एक प्रकार से देखा जाय, तो निराशा की तो कोई वात भी नहीं है। जो घोड़े पर चढ़ेगा वही गिरेगा, जो मार्ग चलेगा वही भूलेगा। जो पानी में तैरने का अभ्यास करेगा वही डूबेगा। श्रेय के कार्यों में विघ्न तो होते ही हैं, यदि भक्ति मार्ग गुड़ का पूआ होता, तो सभी भक्त हो जाते। पाठकों ने पिछले खण्ड में भक्ताग्रगण्य श्री प्रह्लादजी का चरित्र पढ़ा ही होगा और इस पूरे खण्ड में भी उन्हीं के पावन चरित्र को पढ़ेंगे। संसार में भक्ति के लिये प्रह्लादजी आदर्श हैं। जहाँ भक्तों की गणना की जाती है, सर्व प्रथम प्रह्लादजी का नाम लिया जाता है। प्रह्लादजी ने भक्तों के लिये एक आदर्श उपस्थित कर दिया है। भक्त दो प्रकार के होते हैं, एक तो नित्यसिद्ध भक्त दूसरे साधनसिद्ध भक्त। जो नित्यसिद्ध भक्त हैं, वे तो संसार में भगवान् की भाँति भक्ति की स्थापना करने के निमित्त अवतार धारण करते हैं। उनमें बहुत से स्वयं भगवद् भक्ति में निरन्तर निमग्न रहकर एक आदर्श उपस्थित करके चले जाते हैं। पीछे भक्ति मार्ग के पथिक उसी आदर्श को लक्ष्य बनाकर भक्ति मार्ग की ओर बढ़ते हैं।

दूसरे आचार्य रूप में भक्त अवतरित होते हैं, वे स्वयं भक्ति मार्ग के साधनों का अपने जीवन में आचरण करते हैं और अपने अनुयायियों से कराते भी हैं, वे आचार्य भक्त कहाते हैं। वे भी भगवान् के अभिन्न स्वरूप माने जाते हैं, वे अपने इष्ट धाम में बैठकर अपने अनुयायियों की कल्प

पर्यन्त प्रतीक्षा करते हैं और जो इनके मार्ग के अनुयायी हो जाते हैं, उन्हें ये भगवद् सम्मुख करते हैं।

साधन सिद्ध भक्त प्रारम्भ से पूर्व जन्मों के संस्कारानुसार साधन में प्रवृत्त होते हैं, बीच में विघ्न पड़ने से कुछ दिन वे भगवान् को भूल जाते हैं, पीछे भगवान् उन पर कृपा करते हैं, उनके हृदय में पश्चात्ताप उत्पन्न करते हैं। पश्चात्ताप से उनके भीतर के सब मल धुल जाते हैं, वे शुद्ध बन जाते हैं। भक्ति मार्ग ऐसा प्रशस्त मार्ग है, कि इसमें सभी का अधिकार है। स्त्री हो, पुरुष हो, ब्राह्मण हो, चांडाल हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, सदाचार हो, कदाचारी हो, भगवान् को भजने का अधिकार सभी को है।

कुछ लोग कहते हैं, पहिले पाप करना छोड़ दो, अन्तःकरण को विशुद्ध बना लो तब भगवान् की भक्ति करो, अशुद्ध अन्तः-करण से भगवान् का नाम जपने से ही अन्तःकरण शुद्ध होगा। यह तो वही बात हुई, कि पहिले तैरना सीख लो, तब पानी में उतरो। जिससे डूब न जाओ। पहिले घोड़े पर चढ़ना सीख लो तब घोड़े पर चढ़ो जिससे गिर न पड़ो। अरे भाई! तैरना सीखेंगे, तो जल में ही, घोड़े पर चढ़ना, बिना घोड़े पर चढ़े कैसे आवेगा? पाप करने का हमारा स्वभाव पड़ा हुआ है। हम उसे छुड़ाना चाहते हैं तो भगवान् के अतिरिक्त हमें कौन शरण देगा। पापों से छुड़ाने वाले भी तो वे ही हैं, इसीलिये उनका नाम पतित पावन है। हम पतित न होंगे, तो हमें पावन क्या करेंगे। इसीलिये इस भ्रम को निकाल देना चाहिये कि सदाचारी ही भगवद् भक्ति कर सकते हैं। सदा चारी हो और फिर भक्ति भी करे, तो सोने में सुगंधि है, किन्तु

पापी, भक्ति कर हो नहीं सकता, यह बात नहीं, भक्ति मार्ग में ऐसो किसी पात्रता का बन्धन नहीं है। जिसके भी हृदय में भगवान् की चाह हो, जो भी उन्हें पाने के लिये उत्सुक हो वही भक्ति मार्ग को ओर बढ़ सकता है। अजामिल, गीध, व्याध, कुब्जा, विदुर, गज, गणिका तथा अन्याय बहुत से व्यक्ति भक्ति के द्वारा ही तर गये।

यदि भगवान् चरित्रवान् सदाचारी ज्ञानी ध्यानियों के ही होते, तो पतितों का कैसे उद्धार होता। संसार में जन्म लेकर ऐसा कौन है, जिससे पाप न हुआ हो, भगवान् के यहाँ यही नियम हो, कि जिसने एक बार भी पाप कर लिया हो, वह मेरी भक्ति नहीं कर सकता, तब तो उनकी भक्ति संसारी लोग कर ही नहीं सकते, किन्तु पतित पावन प्रभु तो डंके की चोट पर कहते हैं, कि दुराचारी ही, नहीं बड़े से बड़ा सुदुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मेरा अनन्य भाव से भजन करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये। तुमसे जो भी पाप हुये हैं, रोकर उन्हें प्रभु के सम्मुख सच्चे हृदय से निवेदन कर दो। उनका आश्रय ग्रहण करो प्रभु तुम्हारे पापों को भस्म कर देंगे। तुम पंडिताई, पुरोहिताई, अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, शासन, राजकाज, नौकरी, व्यापार, लेनदेन, खेतीवारी, गो सेवा सेवावृत्ति, सैनिक, चोरी, जारी, छल, कपट, कुछ भी करके अपनी आजीविका चलाते हो। भगवान् की शरण लो, उनका आश्रय लो भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे, तुम्हारी बुद्धि शुद्ध करेंगे, तुम्हें अपना लेंगे। पुत्र कितना भी नीच हो कितना भी अयोग्य हो फिर भी पिता के सम्मुख वह जाने का अधिकारी ही है। पिता उसे दण्ड देता है वह भी शिक्षा के ही निमित्त देता है।'पाप कर्म अनेक जन्मों के अन्तराय हैं। वे भगवान् के

निरन्तर नाम कीर्तन से, भगवान् की कथा सुनने से, साधु सन्तों के सत्सङ्ग से शनैः शनैः छूट जायँगे।

भक्ति मार्ग के पथिक के लिये सर्व प्रथम तो यह बताया है, कि सम्पूर्ण भूतों में अपने को देखने का प्रयत्न करे। चराचर जगत् को भगवान् का रूप समझकर किसी का अपमान न करे। जिसे देखे उसे ही मन से अपना इष्ट समझ कर प्रणाम करे, उसके लिये हृदय में आदर भाव करे। इस प्रकार सबका आदर करते-करते सब में समभाव हो जायगा। सब में भगवत् बुद्धि करने से सब में भगवान् दीखने लगेंगे। फिर मोह शोक का नाम ही न रहेगा। कोई अपनी निन्दा भी करे, तो उसका यह समझकर तिरस्कार न करे, कि यह तो मूर्ख है, ऐसे ही बकता है। न जाने भगवान् उसी के द्वारा हमें शिक्षा दे रहे हों। मुझे अपने जीवन की एक घटना भूलती नहीं।

मैं १०।१२ वर्ष यहीं झूसी में सन्ध्यावट के नीचे रहा। वट के नीचे एक छोटी सी कुटी थी, उसमें अकेला रहता था, समय पर लोग कथा कीर्तन करने आते थे, चले जाते थे। मैं अकेला ही रहता था। उन दिनों सम्भवतया कोई परिचारक भी निकट नहीं रहता था, काम करके चले जाते थे। उन दिनों ऐसा था, कि जितने भी फल आदि आजायँ, उन्हें कल के लिये नहीं रखना, सब बाँट देना। कोठरी बन्द करके अपना जप अनुष्ठान करता रहता। और सब तो खिड़कियाँ किवाड़ बन्द रहतीं वायु तथा प्रकाश आने को पूर्व की ओर की एक खिड़की खुली रहती, उस पर भी एक बाँस की चिक पड़ी रहती, कुछ लोग आते उस खिड़की से रुपये पैसे डाल जाते।

भजन से उठकर मैं झाड़ू से उनको कूड़े के साथ नीचे नाले में फेंक देता। फल जो आते बाँट देता। लोग अधिक आते थे।

कुछ लोग सर्वत्र ऐसे होते हैं, जिनका स्वभाव ही ऐसा होता है, दूसरों के दोष देखना। वे भगवान् की ओर से भेजे जाते हैं, सुधार करने के लिये। वे साधकों की निन्दा करके उनके पापों को स्वयं ले लेते हैं। कुछ सात्विक प्रकृति के होते हैं, जो साधकों के त्याग, वैराग्य तथा अन्यान्य गुणों की प्रशंसा करके उनके पुण्यों में अपना भाग लगा लेते हैं।

एक सज्जन ने कहा—"अरे, भैया! ब्रह्मचारी जी तो बड़े त्यागी हैं, पैसे का स्पर्श तक नहीं करते।

दूसरे सज्जन ने हँस कर कहा—"अरे भैया! ये सब लोगों को फँसाने के ढँग है ये सब ढोंग हैं। अभी क्या है देखना ये ही ब्रह्मचारीजी लाखों का चंदा करेंगे।" तब मैं इस बात को सुनकर हँसा था और सोचा था—"ये निंदक ऐसे ही दूसरों की ईर्ष्यावश निंदा किया करते हैं।" किन्तु आज देखता हूँ, उसके मुख से भगवान् बोले थे। आज उसकी बात अक्षरशः सत्य हुई। मैं लाखों के चक्कर में फँस गया। लाख रुपये हों, तो इतना बड़ा प्रेस आवे। शीघ्राति शीघ्र भागवती कथा के सब खण्ड निकल जायँ, कैसे इसका अधिकाधिक प्रचार प्रसार हो कैसे ग्राहक बढ़ जायँ।" इसीलिये शास्त्रकार जगत् को हरिमय देखने के लिये बार-बार उपदेश देते हैं। इसीलिये भक्त अपने को तृण से भी नीच तरु से भी सहिष्णु समझता है। स्वयं अमानी रहकर दूसरों को मान देता है। अतः भक्ति मार्ग में समस्त भूतों में इष्ट के ही दर्शन

करने का विधान है।

यद्यपि भक्ति मार्ग में सदाचार, अवस्था, विद्या, जाति, बल पुरुषार्थ, रूप तथा धन आदि की पात्रता अपेक्षित नहीं। व्याध का क्या सदाचार था, ध्रुवजी की अवस्था तो पाँच ही वर्ष की थी, गजेन्द्र तो पशु था कुछ पढ़ा लिखा नहीं था, विदुरजी तो दासी के पुत्र थे, उग्रसेन तो बहुत बूढ़े बलहीन थे, कुब्जा तो तीन स्थान से टेढ़ी थी, बहुत रूपवती भी नहीं सुदामा तो अत्यन्त धनहीन थे। इस प्रकार ये सब गुणहीन होने पर भी उच्चकोटि के भक्त हुए। इससे यह तो सिद्ध होता है, कि भक्ति मार्ग में सब का अधिकार है फिर भी सब भक्त नहीं हो सकते। भक्ति हृदय की वस्तु है, हृदय प्रधान पुरुष ही भक्त होते हैं। भगवत् प्राप्ति के सनातन दो मार्ग हैं। एक ज्ञान मार्ग दूसरा कर्म मार्ग। जिसकी आरंभ से ही संसारी वस्तुओं में अनाशक्ति हो जो मस्तिष्क प्रधान हो, इन लौकिक वैदिक कर्मों में जिसकी स्वाभाविक रुचि न हो ऐसे पुरुष को ज्ञान मार्ग का अधिकारी समझना चाहिये। उसे विरक्त होकर एकान्त में बैठकर आत्मचिंतन करते रहना चाहिये। उपनिषदादि शास्त्रों का निरन्तर ध्यान करते हुए सद् असद् का विवेक करते रहना चाहिये। शमदमादि षड् सम्पत्तियों को धारण करके ज्ञान वैराग्य द्वारा उसे इस संसार सागर से पार हो जाना चाहिये।

इसके विपरीत जो संसार से पार तो होना चाहता है, किन्तु प्रारब्धानुसार कर्मों में उसकी अत्यन्त आसक्ति है, ऐसे पुरुषों के लिये कर्म मार्ग श्रेयस्कर कहा गया है। अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार निरंतर देवता, पितर और ऋषियों के उद्देश्य से तद्तद् कामनाओं के अनुसार शुभ कर्मों में लगे रहना

चाहिये। अपनी कर्मासक्ति का उपयोग वेद विहित कर्मों में करना चाहिये।

इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा मध्य का मार्ग है। कर्म करने में जिसको न तो अत्यन्त आसक्ति ही हो और न उनसे तीव्र वैराग्य ही हो। लौकिक वैदिक कामनायें न हों, जो हृदय प्रधान व्यक्ति हो वह यदि कर्मों को भगवत् बुद्धि से करे, तो उसे उपासक या भक्त कहते हैं वैदिकी भक्ति का नाम उपासना है, उसमें तो अधिकार और पात्रता का विवेचन है, किन्तु भक्ति मार्ग में तो ऐसी किसी पात्रता की आवश्यकता नहीं है। हृदय में लगन चाहिये चित्त में भगवान् की चाह हो। फिर पात्र भेद से भक्ति के भी सहस्रों भेद हैं, ज्ञान प्रधान, वैधी, रागानुगा आदि सबका सार एक ही है श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में अनुराग होना, जो भी कर्म करे भगवत् प्रीत्यर्थ करे। मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी मेरे इष्ट प्रसन्न हों। यही कर्म करने का लक्ष्य हो।

भक्ति मार्ग का आरम्भ होता है, कथा श्रवण से हम जा रहे हैं दूसरे कार्य से भाग्यवश किसी सन्त पुरुष का दर्शन हो गया भगवान् की कथा में अनुराग हो गया, महापुरुष से मन्त्र दीक्षा ले ली, भक्ति मार्ग का आचरण करने लगे। भगवान् की कथा सुनते-सुनते उनके नाम में उनके यथाश्रुत रूप में उनके लीला स्थानों में तथा उनकी त्रैलोक्य पावन लीलाओं में अनुराग होने लगता है, यह अनुराग ही समस्त अशुभों का नाश कर देता है। जब तक भगवत् चरित्रों में भगवान् के परम पावन यश लीला श्रवण में अनुराग न हो, तब तक समझना चाहिये हम भक्ति मार्ग की ओर बढ़े नहीं।

भक्ति करते-करते प्रारब्धानुसार बीच में बड़े-बड़े अन्तराय

आते हैं। भगवान् का नाम भी लेते हैं, भगवत् कथाओं में अनुराग भी बढ़ गया है। बीच बीच में हृदय भी भर आता है, नेत्रों से प्रेमाश्रु भी बहने लगते हैं। शरीर पुलकित हो जाता है। सांसारिक कर्मों तथा विषय भोगों के प्रति उतना अनुराग भी नहीं, समस्त सांसारिक कामनाओं को मन से दुःख रूप भी समझता है। इतना समझकर भी उन्हें छोड़ने में असमर्थ हो जाता है। विषय सम्मुख आते ही चित्त चंचल हो उठता है, तो उसके लिये शास्त्रकारों ने बताया है घबराने की कोई बात नहीं। धैर्य पूर्वक उस स्थिति का सामना करे। उस समय बार बार विचारे कि इस कार्य का परिणाम दुःखमय है। अपने से ऐसे अनुचित कार्य बन जायँ, तो बार बार उनकी निन्दा करे हृदय से पश्चात्ताप करे। भगवान् के चरणों में पुनः पुनः प्रार्थना करे—"प्रभो! मुझसे अब यह अनुचित कार्य मत कराओ। इस प्रकार श्रद्धा सम्पन्न तथा दृढ़ निश्चय वाला होकर प्रेम पूर्वक प्रभु का भजन करता रहे। मन में पाप प्रवृत्ति उदय भी होजाय और शरीर से भी कोई अनुचित कार्य बन जाय तो निरन्तर भगवान् के ही सम्मुख रोता रहे, उनका ही भजन करे, प्रभु कृपा करेंगे।

भक्ति मार्ग इतना प्रशस्त और उदार मार्ग है, कि इसमें सदाचारी दुराचारी सभी के लिये मार्ग खुला है। कर्म काण्ड में तो ऐसा है, कोई कार्य किसी कामना से किया उसमें यदि त्रुटि रह गई, तो उसके विपरीत फल हो जाता है। यज्ञ की किसी

विधि में दोष हो गया, याँ विधिहीन यज्ञ के कर्ता का शीघ्र ही नाश हो जाता है। ये कर्म विधि के अधीन हैं, किन्तु भक्ति मार्ग तो प्रेम अधीन है। इष्ट के लिये प्रीति चाहिये भगवान् अपने आप समस्त साधन जुटा देंगे। संत रूप में, गुरु रूप में आकर स्वयं मार्ग दिखादेंगे। प्रह्लादजी को माता के उदर में ही भक्ति मार्ग का उपदेश दे दिया। विमाता से अपमानित बालक ध्रुव को घर से निकलते ही उपदेश दे दिया। वाल्मीकि जी के आचरण कुछ अच्छे थोड़े ही थे। डाका डाल डालकर अपनी आ-जीविका चलाते थे। गुरु रूप में भगवान् ने उन पर भी कृपा की उन्हें भी सिद्धि प्राप्त हुई। गणिका तो वेश्या वृत्ति करती थी, उसके हृदय में भी भगवान् ने प्रेरणा करदी।

हम पाप पंक में फँसे संसारी लोगों की इसी एक मार्ग का तो अवलम्ब है, नहीं हम अपने पापों की ओर देखें तो कोटि जन्मों में भी हमारा निस्तार नहीं। पेट भरने को हमें कितने कितने पाप करने पड़ते हैं। हम यदि चिकित्सक हैं, तो घर में किसी का मनुष्य मर रहा है हमें औषधि और शुल्क का दाम तुरन्त चाहिये। इस प्रकार जितनी भी आजीविकायें हैं उनमें कुछ न कुछ परपीड़ा तो होती ही है। परधन परनारी को देख कर क्षण भर में चित्त चंचल हो जाता है। उस समय विवेक रहता नहीं। जैसे शरीर को पक्षाघात (लकवा) मार जाता है वैसे ही मन की दशा हो जाती है। विषय सम्मुख आते ही ज्ञान वैराग्य, धर्म सब भूल जाता है। उसे अपना लेते हैं

पीछे पश्चात्ताप होता है, फिर उसी काम को करते हैं। यदि भगवान् हमारे इन निन्द्य कर्मों को देखकर हमें ठुकरादें, तब हमारा कहीं सहारा हो न रहे। नीच, पापी, निन्दक, व्यभिचारी आदि होने पर भी भगवान् के इन वचनों से बड़ा सहारा मिलता है कि 'कैसा भी पाप क्यों न हो एक बार मेरी शरण में आने पर मैं उसके सब पापों का नाश कर देता हूँ।'

हृदय में उनके प्रति अनुराग हो और पापों में प्रवृत्ति भी हो जाय, तो भगवान् स्वयं ही किसी न किसी रूप में उसे छुड़ा देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के हृदय में उनकी भक्ति थी साथ ही विषयों में भी आसक्ति थी। भगवान् ने उनकी स्त्री से ही उन्हें उपदेश दिला दिया। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, कि जो पहिले अत्यन्त विषयी दुराचारी थे पीछे भगवत् कृपा से वे बड़े ऊँचे भगवत् भक्त हुए। मैंने ऐसे बहुत से बड़भागी भक्तों के दर्शन किये हैं।

पहिले मैं गंगा किनारे किनारे कुछ भी समीप न रख कर बनावटी त्यागी की भाँति घूमा करता था। यह लगभग १६।१७ वर्ष पहिले की मैं बात बता रहा हूँ, एक बार चलते चलते मैं कानपुर से बहुत दूर निकल गया। अब उस स्थान का नाम तो मुझे याद रहा नहीं, किन्तु उसका चित्र अब लिखते समय ज्यों का त्यों मेरी आँखों के सामने नाच रहा है। गंगा जी के किनारे पर ही जीर्ण शीर्ण सा शिव मन्दिर था। उससे कुछ

दूर पर एक गाँव था। उसके समीप किसी ऋषि का प्राचीन आश्रम था। उन दिनों कुछ पास तो रखता ही नहीं था। अपरिग्रही बन कर भगवान् का चिन्तन करना ही मेरा लक्ष्य था, किन्तु भगवान् की अपेक्षा भोजन की चिन्ता अधिक बनी रहती। कहाँ चलने से भोजन मिलेगा, कहा पेट भर के भिक्षा मिलेगी यह चिन्ता प्रायः हर समय मन में बनी रहती। उसी उद्देश्य को लेकर मैं उस जीर्ण शीर्ण से शिवालय में गया। वहाँ जाकर देखा एक गौरवर्ण के सन्यासी जी बैठे हैं। मुख पर बड़ा तेज, बड़ी सौम्य मूर्ति। वे वृद्ध नहीं थे, किन्तु युवावस्था उनको छोड़ कर जाने की तैयारी कर रही थी। संक्रान्ति के दिन जैसे तिल चावल मिला देते हैं वैसे ही उनके कुछ काले कुछ सफेद बाल थे। मैंने जाकर उन्हें प्रणाम किया। परिचय हुआ। मैंने उन्हें अपना नाम बताया वे मेरे पैरों पर पड़ गये। उन दिनों मैं कल्याण में प्रायः लेख लिखा करता था। प्रेम के संबन्ध के मेरे उन्होंने लेख पढ़े थे, उन लेखों को पढ़ कर उन्होंने ऐसा अनुमान लगा लिया होगा, कि मैं कोई बड़ा प्रेमी हूँ। उनको क्या बहुत लोगों को भ्रम हो जाता है। वे जानते नहीं कि लेख लिखना एक कला है। एक बड़ा भारी लेखक था। अत्यत ही सुरापी था। किसी ने कहा "तुम मदिरा की निन्दा में एक ग्रन्थ लिखो। उसने बड़ा सुन्दर ग्रन्थ लिखा। उसे पढ़कर बहुतों ने सुरा पीना छोड़ दिया, किन्तु वह सुरापी का सुरापी ही बना रहा। बहुत से चित्रकार भगवान् के ऐसे सुन्दर सुन्दर चित्र

बताते हैं कि भक्त उन्हें देखकर विह्वल हो जाते हैं। उसका ध्यान करते करते उसमें से प्रत्यक्ष भगवान् को प्रकट कर लेते हैं। किन्तु चित्रकार न जाने ऐसे कितने चित्र नित्य बनाता है, उसे तो अपनी उदर पूर्ति और वासना पूर्ति को उसके बनाने का पारिश्रमिक २०) २५) चाहिए। यही दशा मुझ जैसे लेखकों की है। अस्तु

मैंने बनावटी शिष्टाचार से कहा—"स्वामी जी! आप तो बड़े हैं, मैं तो आपका बालक हूँ, आप यह अपराध मेरे ऊपर क्यों चढ़ाते हैं। आप तो सन्यासी हैं।

उन्होंने रोते रोते कहा—"महाराज! मैं तो अत्यन्त पतित हूँ, काहे का सन्यासी हूँ। नाम मात्र को मैंने वस्त्र रंग लिये हैं। आज्ञा हो तों मैं अपने अत्यन्त गर्हित जीवन का वृत्त सुनाऊँ ?"

हृदय से निकले उनके इन वचनों में कितनी वेदना थी, कितनी मर्मान्तिक पीड़ा थी, मेरे मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने कहा—"हाँ, स्वामी जी! सुनाइये।"

वे बोले—"महाराज, मैं कानपुर में रहता था। जाति का ब्राह्मण हूँ, मेरे स्त्री है, बच्चे हैं। मैं एक सेठ के यहाँ मुनीमी करता था। उस सेठ की एक युवती विधवा लड़की थी। लड़की बड़ी ही सुन्दर सरल हृदय की थी। मेरे कोई पूर्व-जन्म के पाप उदय हुए। उससे मेरा अवैध सम्बन्ध हो गया।

हृदय से मुझे इसका दुःख था और उसे भी, किन्तु आसक्ति इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि मैं उसे छोड़ नहीं सकता था। आकर्षण दोनों ही ओर से था। मैं भगवान् के मन्दिर में जाता रोता चिल्लाता, विनय करता किन्तु भगवान् ने मेरी एक भी न सुनी। मेरे घरवाले जानते थे, उसके भी घरवाले जानते थे, किन्तु दोनों ओर से किसी ने आपत्ति नहीं की घरवालों को यथेष्ट धन मिलता था। किन्तु न उसे सन्तोष था न मुझे।

एक दिन मैं बहुत ही उसके लिये व्याकुल हो रहा था। अत्यन्त प्रतीक्षा के अनन्तर उससे भेंट हुई। उसने कहा—"जितना तुम मुझसे प्रेम करते हो उतना यदि भगवान् से करो, तो तुम्हारा बेड़ा पार जाय।" महाराज! कोई समय ऐसा होता है, कि उस समय का वचन हृदय में तीर के समान लग जाता है। मुझे ऐसा लगा—मानों साक्षात् भगवान् ने ही मुझे उपदेश दिया। मैंने उसके पैर पकड़ लिये और कहा—"आज से तुम मेरी गुरु हुई।" उसने इस बात को स्वीकार किया। मैं यहाँ आ गया। अपने आप मैंने कपड़े रंग लिये। यहाँ एक सन्यासी रहते थे। उनके नाम के ही अनुसार मैंने नाम रख लिया। यथार्थ में मेरी गुरु वे ही हैं। अब मुझे वे यहाँ कभी कभी दर्शन देने आती हैं। कोई ऐसी बात नहीं भगवान् ने मेरे ऊपर उनके द्वारा कृपा की है।"

मेरे ऊपर उनकी इस कथा का बड़ा प्रभाव पड़ा। भग-

वान् को इसीलिये पतित पावन कहा है। हृदय में उनकी चाह हो, यह विश्वास बना रहे, कि हम नीच हैं, पापी हैं, किन्तु भगवान् हम पर कभी न कभी कृपा अवश्य करेंगे तो एक दिन वह आवेगा, कि हमारे मन की समस्त वासनाओं को भगवान् मेंट देंगे।

राम राम रटते रहो, जब लग घट में प्रान।
कबहुँ तो दीन दयाल के, भनक परेगी काम॥

आज इस कलिकाल में योग, तथा ज्ञान आदि साधन केवल कथन मात्र को अवशिष्ट रह गये हैं। कुछ इनको करने वाले भी कहीं छिपे, होंगे नहीं तो कलिकाल का प्रभाव बड़ा कठिन हैं। कोई योगी दीखता है, न सिद्ध, न ज्ञानी, न सत्कर्म करनेवाले विशुद्ध कर्म निष्ठ कलिरूप दावानल ने सभी साधनों को भस्मसात् कर दिया है। लोगों की पाप कर्मों में स्वाभाविकी प्रवृत्ति हो गई। हम जैसे साधुवेषधारी असाधु भी उसी कलि के प्रभाव से अपने धर्म कर्मों से पतित होकर उभयभ्रष्ट बन गये हैं। ऐसे लोगों के लिये भक्ति मार्ग के अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं, अवलम्ब नहीं। अपने कर्मों के द्वारा-साधनों द्वारा-प्रभु की प्राप्ति हो सके यह असंभव है, उनकी पतित पावनता को स्मरण करके ही कुछ आशा बँध रही है। उसी आशाके सहारे जी रहे हैं।

पूर्वं कृतानि दुरितानि मयातुयानि,
स्मृत्वाखिलानि हृदयं परिकम्पते मे।

ख्याता चते पतितपावनता तु यस्मात्
तस्मात् त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ।

छप्पय

सदाचार तैं हीन पतित पापी हौं पामर ।
करहु पतित उद्धार पतित पावन हे अघहर ॥
सतत करहुँ अपराध पाप को प्रभुवर आकर ।
किन्तु एकई आश आप करुना के सागर ॥
उदर नाम लैकें भरहुँ, करहुँ नाम अपराध नित ।
कृपा करहु करुनाअयन, तव चरननि महँ लगहि चित ॥

संकीर्तन भवन, भूसी, प्रयाग }
पौष शु० ११।२००५ } प्रभुदत्त

———

To. Bishnu Das Malu.
Pin - 742133.

पिता का प्रह्लादजी से पुनः प्रश्न

(४६४)

प्रह्लादनूच्यतां तात स्वधीतं किंचिदुत्तमम् ।
कालेनैतावतायुष्मन्यदशिक्षद्गुरोर्भवान् ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

यों डराइ धमकाइ पढ़ावें राजनीति पुनि ।
लख्यो लालकूँ चतुर गये लै ढिँग भूपति पुनि ॥
परयो पैर महँ पुत्र असुरपति तुरत उठायो ।
सिर सूँघ्यो करि प्यार प्रेम तें गोद बिठायो ॥
कहा श्रेष्ठ समझ्यो तुमनि, पुनि पुनि पूछें पुत्र अब ।
निज स्वभाव तें विवश है, बोले श्री प्रह्लाद तब ॥

यदि स्वभाव दुस्त्यज न होता, तो दुष्ट लोग उपकारी के साथ भी दुर्व्यवहार क्यों करते। संत लोग दुष्टों के द्वारा अपमानित तिरस्कृत और दण्डित होने पर भी उनकी मङ्गल

---

* हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से पूछ रहा है—"चिरञ्जीवी पुत्र प्रह्लाद इतने दिनों गुरु के समीप रहकर जो तुमने सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया है, उसमें तुम्हें जो सर्वश्रेष्ठ बात मालूम हुई हो, उसे हमें सुनाओ ।

कामना क्यों करते ? इन सब बातों से प्रतीत होता है, कि उत्तम पुरुष उत्तम कार्य करने के लिये और अधम पुरुष अधम कार्य करने को विवश हो जाते हैं। सभी जानते हैं जुआरियों को जूए में कुछ मिलता नहीं, कभी एक पाते हैं, तो फिर दस गँवा देते हैं। सुरापी भी समझते हैं सुरापान बुरा व्यसन है। इससे हानि ही हानि है, किन्तु वे स्वभाव से विवश हैं, इसी प्रकार जिनके हृदय में जन्म से ही भगवद्भक्ति है वे बिना भगवत्परिचर्या के रह नहीं सकते। परोपकार करने में परोपकारियों को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। निंदा सुनते हैं, विरोध सहन करते हैं, लाठी डंडा सहन करते हैं, चले जाते हैं, यहाँ तक कि हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ जाते हैं, किन्तु परोपकार को किसी भय के कारण किसी भी प्रकार से नहीं छोड़ते। निर्भय होकर उसी कार्य को करते रहते हैं। धर्म में परोपकार में बड़ा साहस होता है, धर्मात्मा लोगों का प्रतिपक्षी कितना भी बली क्यों न हो, वे अपने साहस तथा आत्मबल के सम्मुख उनसे भयभीत नहीं होते।

नारदजी कह रहे हैं—"धर्मराज ! शुक्राचार्य के पुत्र शंडा और अर्मक प्रह्लादजी को साम, दाम, भेद और दण्ड मूलक अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति कराने वाली राजनीति को बड़े परिश्रम से पढ़ाने लगे। प्रह्लादजी राज पुत्र ही ठहरे, उन्हें राजनीति से कोई विरोध तो था नहीं, इसे व्यवहार के लिये अच्छा मानते हुये सर्वश्रेष्ठ तो वे भगवद्भक्ति को ही समझते थे, किन्तु गुरुओं के सम्मुख अपने आन्तरिक भावों को उन्होंने कुछ काल के लिये गुप्त रखा। बुद्धि तो उनकी अत्यन्त तीव्र थी ही। गुरु जो भी बात एकबार कहते, उसे तुरन्त याद करके उसी समय ज्यों की त्यों सुना देते। उनकी ऐसी

विलक्षण चमत्कारपूर्ण प्रतिभा को देखकर गुरुपुत्र आश्चर्य चकित हो जाते और मन ही मन सिहाते, कि अबके यदि हम इसे ले जायँगे, तो मनमाना पारितोषिक पावेंगे।

कुछ काल में प्रह्लादजी नीतिशास्त्र में पारंगत हो गये। उनको योग्य जानकर गुरुपुत्र उन्हें राजा के अन्तःपुर में ले गये। कयाधू ने गुरुपुत्रों के सहित अपने पुत्र को जब देखा, तो वे अत्यंत ही हर्षित हुई। गुरुपुत्रों की उसने विधिवत् पूजा की। पुत्र को गोद में बिठाकर प्यार किया उसका मुंह चूमा और सिर सूँघकर उसकी कुशल पूछने लगीं। भोला बालक माँ की छाती से चिमट गया उससे माँ के स्तनों में अपने आप दूध भर आया, जिससे प्रह्लादजी के वस्त्र और बाल भीग गये। माता ने उठकर बच्चे को उबटन लगाकर विधिवत् स्नान कराया। सुन्दर से सुन्दर वस्त्र पहनाये, अमूल्य आभूषणों से अलंकृत किया। आखों में मोटा मोटा काजर लगाया। भाल पर गोरो-चन का तिलक दिया। सुन्दर स्वादिष्ट कुरकुरे, लुचलुचे, भुरभुरे, खाद्य, भोज्य, लेह्य, चोस्य और पेय इस प्रकार पाँचों प्रकार के भोजन कराके, गुरुपुत्रों के साथ उसे पिता के समीप राज सभा में भेजा।

प्रह्लाद ने सभा में पहुँचकर बड़ी श्रद्धा भक्ति से पिता के पैरों में पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत की। अपने प्यारे दुलारे छोटे पुत्र को पैरों में पड़ा देखकर पिता का हृदय पसीज गया। उसने तुरन्त पुत्र को उठाकर छाती से लगाया। सिर सूँघकर प्यार किया। फिर उसकी छोटी छोटी काली काली घुँघराली लटों को अपनी ऊँगलियों से सुलझाते हुये हिरण्यकशिपु बोला—"बेटा, अब के तो तुमने सार्थक सुन्दर शिक्षा पाई होगी। मैंने गुरुपुत्रों से अबके अत्यंत सावधानी रखने का संकेत कर दिया था।

अच्छा, अब तुम बताओ, किस बात को तुम सर्वश्रेष्ठ समझते हो ? तुमने अब तक जो कुछ पढ़ा है, उसमें जो सर्वश्रेष्ठ बात हो, जिसे प्राणिमात्र का समान रूप से कल्याण होता हो, उसे तुम मुझे सुनाओ ?"

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! प्रह्लादजी के मन में तो और ही बात बसी हुई थी, उन्होंने तो संसार का कल्याण आसुरी प्रकृति से विपरीत आचरण में ही समझा था। अतः वे निर्भय होकर बोले—"पिता जी ! मेरी बात ध्यान पूर्वक सुन लें, बीच में टोकें नहीं मैंने जो भी सार सिद्धान्त समझा है, उसे मैं संक्षेप में आपको सुनाता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

हिरण्यकशिपु ने उल्लास के स्वर में कहा—"अच्छी बात है, मैं तुझे बीच में टोकूँगा नहीं, तू निर्भय होकर कह।"

तब प्रह्लादजी कहने लगे—"पिताजी ! बहुत से लोगों को दूसरों की निंदा, परचर्चा, प्रवाद, अपवाद तथा और भी इधर उधर की बातें बड़ी मीठी लगती हैं। इन बातों के सुनने में उन्हें बड़ा रस आता है, किन्तु मैं विष्णु भगवान् के नाम तथा गुणों के श्रवण को ही सर्वश्रेष्ठ साधन समझता हूँ। यही संसार सागर से पार होने का प्रथम सोपान है। कुछ लोग इन काम, क्रोध के वशीभूत लोगों के गुणों के कीर्तन से अपना लाभ समझते हैं। वे सोचते हैं, इनकी प्रशंसा करेंगे तो ये हमें कुछ देंगे। वे स्वयं भूखे लोग दूसरों को क्या देंगे और अधिकाधिक माया जाल में फँसावेंगे। जिससे यह भव

जाल कट जाय, छिन्न भिन्न हो जाय, वह तो कृष्ण नाम और गुणों का कीर्तन ही है। कृष्ण कीर्तन से बढ़ कर कोई श्रेष्ठ बात संसार में नहीं है।

प्रायः लोग विषयों का ही चिंतन करते रहते हैं। जो जिसका चिंतन करेगा, अन्त में उसे उसी वस्तु की प्राप्ति होगी, विषयों की चिन्तना करने वाले पुरुष विषय रूप विष को पीकर मरते और जन्म लेते हैं। विषयों को छोड़ कर जो विष्णु का स्मरण करते हैं, वे अमर हो जाते हैं, अतः मेरे मत में तो विष्णु स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है।

पापियों के पादसेवन को करते करते प्राणी पापमय बन जाता है, किन्तु प्रेमपूर्वक प्रभु के पादपद्मों का पूजन करने से उसे परम पद की प्राप्ति होती है, अतः प्रभुपाद सेवन से श्रेष्ठ संसार में सुखकर कोई सामग्री नहीं। कुछ लोग विषयी पुरुषों का अर्चन करते हैं कुछ अन्य राजसी तामसी देवों का करते हैं, तो करें, मैं उनकी निन्दा नहीं करता, किन्तु मेरे मत में तो अच्युत से उत्तम कोई अर्चनीय देव नहीं, अतः दुख की अत्यन्त निवृत्ति अच्युत के आराधन से ही हो सकती है, ऐसा मेरा मत है।

विषयी लोगों का वन्दन विषय प्राप्ति के लिये करें तो समझना चाहिए यह अमृत देकर विष ग्रहण करना चाहता है। विश्व में वन्दनीय तो भगवान् वासुदेव ही हैं। वासुदेव बुद्धि से चाहें जिसका वन्दन किया जाय वही उत्तम वन्दन है, शेष सभी संसार वन्धन को कसने वाले हैं।

संसारी लोग सोने, चाँदी तथा कागद के टुकड़ों के लिये

अपने शरीर को अर्पण कर देते हैं। रात दिन केवल पैसों के लिये ही दासता रूपी रज्जु में वँधे रहते हैं, विषयियों के संकेत पर नाचते रहते हैं, उनकी कुत्सितवासनाओं की पूर्ति के लिये अपने धर्म, कर्म, सत्य और सदाचार को भी खो देते हैं। यदि इन दुष्टों की दासता न करके दयासागर दीनवन्धु की दासता स्वीकार करले, निष्कपट भाव से उनकी दास्य भक्ति करने लग जाय, तो यह जन्म सफल हो जाय। मैं तो नरदेह की सार्थकता भगवान् की दास्यभाव से की गई भक्ति में समझता हूँ।

लोग जिसे भी सुन्दर, सहृदय. धनी या गुणी देखते हैं उसी की ओर आकर्षित हो जाते हैं चाहते हैं, इससे हमारी मित्रता हो जाय, संसारी मैत्री शुद्ध तो होती नहीं। वह तो स्वार्थ की शाठ्य मिश्रित होती है। इन सन्मुखी मनुष्यों से मैत्री करना व्यर्थ है यदि मदन मोहन मधुसूदन माधव से मैत्री हो जाय तो मनुष्यों की मनोकामनायें मिट जायँ। माधव की मंजुल मूरति मन में बैठ जाय, तो मोक्ष भी तुच्छ हो जाय, क्योंकि मुरारि तो मोक्ष के भी पति हैं। अतः मेरे मत में मुरलीमनोहर से मैत्री करना ही मनुष्यों के लिये सर्वश्रेष्ठ कार्य है।

मनुष्य सर्वभाव से अपने को विषयों के अधीन कर लेते हैं। मन को वश में न करके मन के अधीन हो जाते हैं। उसके संकेत पर नाचते हैं, उसके यन्त्र बन जाते हैं। ऐसा न करके जो अपने समस्त कर्मों को अपनी समस्त इच्छाओं और वासनाओं को श्रीहरि को अर्पण कर देते हैं। अपना कुछ भी न रखकर उन्हें ही जो आत्मसमर्पण कर देते हैं, मेरे मत में उनसे उत्तम कार्य करने वाला कोई भी नहीं। इस प्रकार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और

आत्मनिवेदन यह नवधाभक्ति ही मेरी बुद्धि में सबसे बड़ी बात है। भगवदर्पण पूर्वक इनका आचरण करने ही में पढ़ने का फल और सर्वश्रेष्ठ अध्ययन समझता हूँ। पिताजी ! मैंने अपने मन की बात कह दी, जो मुझे सबसे अच्छी बात लगी वह बता दी। अब आप और जो भी कुछ पूछेंगे उसे भी बताऊँगा।

प्रह्लाद की ऐसी बातें सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोध के कारण आग बबूला हो गया। उसकी भौंहें तन गईं, शरीर थर-थर काँपने लगा। अधर फरकने लगे दाँतों से ओठों को काटता हुआ लाल-लाल आँखें करके उन गुरुपुत्र शंडामर्क से कहने लगा—"क्यों रे, नीच ब्राह्मणों ! क्या तुमने इस बच्चे को यही पढ़ाया है, इसी शिक्षा के लिये इसे मैंने तुम्हारे पास भेजा था क्या ? तुम लोग बड़े मदोन्मत्त हो गये हो। अपने को स्वतन्त्र समझते हो। मेरी आज्ञा का तुम तनिक भी ध्यान नहीं रखते। मेरे शत्रु विष्णु का आश्रय लेकर उसकी प्रशंसा सूचक कैसी सारहीन शिक्षा तुमने इस शिशु को दी है। हम तो तुम्हें अपना हित में अग्रणी रहने वाला पुरोहित समझते थे। तुम तो घर के भेदिया शत्रु निकले। अंगरखी की बाँह में छिपे सर्प सिद्ध हुए। तुम लोग हमारे घर में ही भेद भाव डालना चाहते हो। प्रतीत होता है, तुम हमारे शत्रु विष्णु के गुप्तचर हो। तुम्हारा भंडा फोड़ हो गया, तुम्हारी कलई खुल गई, पाप सदा छिपा नहीं रहता, काठ की हंडी बार-बार नहीं चढ़ती तुम मेरे पुरोहित नहीं वैरी हो, मैं तुम्हें दण्ड दूँगा।

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु की ऐसी क्रोध युक्त बातें सुनकर गुरुपुत्र उसे मनाते हुए शान्तिपूर्वक उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

श्रवन कीरतन करे विष्णु सुमिरन पद सेवन।
अर्चन वन्दन दास्य सख्य अरु आत्मनिवेदन ॥
है जिह नवधा भक्ति करे जग में जो इनकूँ।
यही बात अति श्रेष्ठ गनूँ हौं उत्तम तिनकूँ ॥
सुनि खिसियानों असुर अति, गुरु पुत्रनि पै क्रोध करि।
डाँटि कहे ओ अधमद्विज, गयो पुत्र कैसे बिगरि ॥



प्रह्लादजी द्वारा गुरुपुत्रों की निर्दोषता

(४६५)

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतम्,
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्,
नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

बोले गुरु के पुत्र असुरपति कोप न कीजे ।
देवें लखि अघ दंड बात सबरी सुनि लीजे ॥
नहिँ हम कबहूँ जाइ कृष्ण को नाम सिखायो ।
नहीं बदलि के वेष गुप्तचर कोई आयो ॥
यह मति जाकी सहज है, बिना पढ़ाये कहै सब ।
हिरनकशिपु अति क्रोधकरि, बोल्यो सुतकूँ झिरकि तब ॥

भृत्य के अपराध का दोष स्वामी का समझा जाता है और

---

* गुरुपुत्र कह रहे हैं—"हे इन्द्रशत्रो ! आपका यह पुत्र जो बातें कह रहा है वे न मेरी सिखाई हैं न किसी दूसरे की सिखाई हैं। हे राजन् ! इसकी ऐसी मति स्वाभाविकी ही है। इस विषय में आप हमें दोष न दें अपने क्रोध को शान्त करें।

शिष्यों की उद्दंडता का उत्तरदायित्व गुरु पर है। सामान्यतया लड़के भली बुरी बातें अपने अध्यापकों से सीखते हैं। इसीलिये गुरु उपदेश देते हुए कहा करते हैं—"भैया! देखो, हमारे जो सुचरित हों, उन्हीं को ग्रहण करना। इतर बुरे चरित्र हममें देखो, तो उन्हें मत ग्रहण करना। सामान्यतया हम बड़ों के गुणों की अपेक्षा दोषों को ही शीघ्र ग्रहण करते हैं, क्योंकि विषयों में जीवों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा गया है। बिना सिखाये पढ़ाये अभक्तों में भक्त पैदा हो जाते हैं। दुष्टों के संसर्ग में रहने पर भी बालक साधु बन जाते हैं, उन पर सङ्ग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपनी भिन्न प्रकृति और भिन्न स्वभाव को ही लेकर उत्पन्न होते हैं। इसे स्वाभाविकी या जन्मजात विद्या कहते हैं।

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु ने गुरुपुत्रों को बहुत डाँटा फटकारा तब वे विचारे दीन राजसेवक अपने को निरपराध सिद्ध करते हुये कहने लगे—"राजन्! आप तो न्यायप्रिय हैं, पहिले हमारी बात सुनलें, यदि इसमें हमारा दोष हो तो हमें दण्ड दें। आप अकारण केवल सन्देह के ऊपर ही हमें दोषी न ठहरावें क्रोध को छोड़कर हमारी प्रार्थना सुनलें।"

क्रोध से लाल-लाल आखें निकालकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छी बात है, कहो क्या कहते हो?"

दीन होकर गुरुपुत्रों ने कहा—"प्रभो! आप हमारा विश्वास करें, हमने कभी इसे ये बातें नहीं सिखाई हैं। जो आपका शत्रु वह हमारा भी शत्रु, हम उसकी भक्ति प्रपत्ति, प्रशंसा

स्तुति क्यों करने लगे ? आपकी शरण छोड़कर उस अशरण की शरण क्यों जाने लगे।"

क्रोध में भरकर दैत्यराज बोला—"तुम लोग कहते हो, तो हम तुम्हारी बात पर विश्वास करते हैं, तुमने न सिखाया तो तुम्हारे यहाँ कोई विष्णु का दूत वैष्णव छिपकर रहता होगा, उसने इसे ये विष्णु की दासता की बातें सिखा दी होंगी।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अन्नदाता ! जब से आपकी आज्ञा हुई थी, कि इसे किसी भी अपरिचित व्यक्ति से न मिलने दिया जाय, तब से हम बड़ी सावधानी रखते हैं। इसे सदा पास में ही बिठाते हैं, पास में ही सुलाते हैं। हममें से कोई एक किसी काम को चला जाता है, तो दूसरा अवश्य इसके समीप बना रहता है। अतः हम दृढ़ता के साथ कहते हैं, किसी दूसरे ने भी इसे नहीं सिखाया।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु का गुरुपुत्रों के प्रति जो क्रोध उत्पन्न हुआ था, वह जाता रहा। सरलता के साथ उसने कहा—"यह बड़े आश्चर्य की बात है। आपने सिखाया नहीं दूसरा कोई इससे मिलता नहीं, तो फिर इसने ये हमारे शत्रु की भक्ति की बातें सीख कहाँ से लीं ?"

राजा को क्रोधरहित देखकर गुरुपुत्रों का साहस बढ़ा। वे अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"हे इन्द्रशत्रो ! हे त्रिभुवनाधिप राजन् ! कोई-कोई गुण किसी-किसी बालक में स्वाभाविक होता है। वह माता के पेट से ही उसमें पारंगत होता है। जहाँ बोलने चालने लगा, उसे करने लगता है।

इसी प्रकार इसकी यह स्वाभाविकी बुद्धि है। इस विषय में आप हमें व्यर्थ दोषी न समझें।"

गुरुपुत्रों की बात पर हिरण्यकशिपु को कुछ-कुछ विश्वास हो गया, उसी को दृढ़ करने के लिये और अपने क्रोध को प्रह्लाद पर उतारने के लिये, उसे डपटते हुए दैत्यराज क्रोध पूर्वक उनसे बोला—"क्यों रे छोकरे! तू सच-सच बता दे, तेरी ऐसी अमङ्गलमयी खोटी बुद्धि कैसे हुई? जब ये बातें तुझे गुरुओं ने नहीं बताईं तो तैंने कहाँ से ये सीखीं? झूठ मत बोलना सत्य-सत्य कह देना। यदि तैंने तनिक भी इधर उधर की नमक मिरच मिलाई तो देख, इस बेंत से तेरी चमड़ी उधेड़ दूँगा। तेरी हड्डी पसली तोड़ दूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब प्रह्लाजी से इस प्रकार लाल ताते होकर असुर ने ये बातें पूछीं, तो वे भक्ताग्रगण्य महानुभाव बिना हिचकिचाहट के निर्भय होकर पिता की गोद में बैठे-बैठे ही मेघगंभीर वाणी से कहने लगे—"पिताजी! इन गुरुपुत्रों का कोई दोष नहीं ये बातें इन्होंने मुझे नहीं सिखाईं। जिनके पूर्व जन्मों के संस्कार नहीं, उन्हें सिखाने से ये बातें आ भी नहीं सकतीं।"

इसपर दाँतों को पीसकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"दुष्ट! यही तो मैं पूछता हूँ, गुरुपुत्रों के बिना सिखाये तेरी इन बातों में प्रवृत्ति कैसे हो गयी।"

प्रह्लादजी ने नम्रता के साथ कहा—"पिताजी! इन गृहासक्त विषयी पुरुषों की विषयों में प्रवृत्ति कैसे हो जाती है। वही दारा है, वही अन्न, जल, पुष्प शैय्या है। एक बार भोग

लेने पर भी इन पदार्थों से तृप्ति क्यों नहीं होती। किसके सिखाने से इन्हें बार २ भोगने की लालसा होती है साधुसंतों से सदा सुनते रहते हैं कि संसारी भोग अनित्य हैं, क्षण-भंगुर हैं, नाशवान हैं फिर भी इनका परित्याग क्यों नहीं करते। इन ग्राम्यसुखासक्त पुरुषों की बुद्धि स्वतः या परतः अथवा पारस्परिक सत्संग से भी भगवान में नहीं लगती। सो, महाराज! सिखाने से ही ये बातें नहीं आतीं।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"अरे, नीच! कुलाङ्गार तेरा भगवान् ऐसा है, तो वह मेरे सम्मुख क्यों नहीं आता। मेरी बुद्धि को विपरीत क्यों नहीं बनाता। बच्चों को ही क्यों बिगाड़ता है। भोले भाले लोगों को ही क्यों अपने फंदे में फँसाता है?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"महाराज! सबके सम्मुख वे श्रीहरि प्रकट नहीं होते। सब कोई उन्हें प्राप्त करने में समर्थ नहीं। आपही सोचें इन संसारी विषयों को ही सर्वस्व तथा सुख का साधन मानकर उनके पीछे पड़े रहते हैं, बिना पुत्र के गति नहीं, ऐसे पुष्पित वाक्यों को ही प्रमाण मानकर भेड़िया धँसान में पड़कर अंधकूप में पतित होते हैं, ऐसे दुर्मति अपने परम पुरुषार्थ रूप श्रीहरि को कैसे प्राप्त कर सकते हैं?"

इस पर दाँतों से ओठों को काटता हुआ क्रोध के साथ दैत्यराज हिरण्यकशिपु बोला—"अरे दुष्ट! वह परम पुरुषार्थ रूप तेरा विष्णु है कहाँ? मैं तो उसे बलहीन नपुंसक और डरपोक मानता हूँ, यदि उसमें कुछ शक्ति है, तो मेरे सम्मुख आकर

३

दो दो हाथ करे।"

प्रह्लादजी ने निर्भीक होकर कहा—"पिताजी! क्रोध न कीजिये। क्रोध बुरी वस्तु है। भगवान् यों सभी को नहीं मिल जाते। जब तक निष्किञ्चन भगवद्भक्त महापुरुषों की चरणरज को श्रद्धा सहित नित्य नियम से सिर से पैर तक नहीं लगाते। उसमें सर्वाङ्ग स्नान नहीं करते, तब तक भगवान् के दर्शन दुर्लभ हैं, असंभव हैं, असाध्य हैं। महाराज! इस संसार रूप अनर्थ का सर्वनाश तभी हो सकता है जब बुद्धि भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में विलीन हो जाय। आप की तो वाह्य दृष्टि है, अब मैं आपसे अधिक क्या कहूँ।"

प्रह्लाद के मुख से ये बातें सुनकर हिरण्यकशिपु के कोप का पारावार नहीं रहा। वह क्रोध में अंधा हो गया। गोद में बैठे अपने प्यारे पुत्र को उठा कर पृथ्वी पर पटक दिया और नौकरों को सम्बोधन करके बोला—"इस दुष्ट को यहाँ से ले जाकर मार डालो। इसे जीवित न छोड़ो।"

समीप में बैठे मंत्री ने कहा—"प्रभो! छोटे से बालक पर इतना क्रोध उचित नहीं।"

क्रोध के आवेश में दैत्यराज बोले—"यह छोटा नहीं बड़ा खोटा है। इससे बढ़कर नीच कौन होगा। जो विष्णु हमारे कुल का संहारक है, जिसने मेरे छोटे भाई इसके सगे चाचा-को मार डाला उसी की यह पूजा करता है, उसी का अपने को दास मानता है, तो इसमें और विष्णु में क्या अंतर रहा। शत्रु का मित्र अपना भी शत्रु है। एक दिन यह मेरे शत्रु से मिल-कर मुझे भी मरवा डालेगा। इससे बढ़कर नीच कौन होगा।

कहता है—"मैं विष्णु की पूजा करता हूँ, उनकी भक्ति करता हूँ" यह विष्णु की भी क्या भक्ति करेगा। जो अपने सगे बाप का नहीं हुआ, वह विष्णु का कैसे हो सकता है। तनिक मतभेद हुआ, कि उससे भी द्वेष करने लगेगा। पूत के पाँव तो पालने में ही दीख जाते हैं। होनहार विरवाओं के जन्म से ही चिकने पत्ते होते हैं। द्वेषी सबसे द्वेष करता है। प्रेम और द्वेष तो घर से ही आदमी सीखता है। जो पिता का, कुल का, परिवार का, हितैषी नहीं, पक्षपाती नहीं, वह देश का धर्म का पक्षपाती क्या होगा। घर वालों से द्वेष, शत्रुओं से मैत्री क्या यही भक्ति है। अभी पाँच वर्ष का है, किन्तु मेरे सामने कैसा टका सा उत्तर दे रहा है, इसे लज्जा भो नहीं लगती।"

मंत्री ने कहा—"महाराज, कैसा भी हो पुत्र तो पुत्र ही है अपने शरीर से उत्पन्न पुत्र का भला कौन वध करा सकता है?"

इस पर क्रोध से हिरण्यकशिपु बोला—"मंत्रीजी आप कैसी बात कर रहे हैं। शरीर से उत्पन्न होने से ही कोई ग्राह्य नहीं होता। मल, मूत्र, पसीना जूँए, नख, केश तथा रोग ये सब शरीर से ही उत्पन्न होते हैं। बुद्धिमान् पुरुष अपने हितके लिये इन्हें तुरन्त शरीर से पृथक् करके फिर इनकी ओर देखते भी नहीं। रोग शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हें अहितकर समझते हैं, किन्तु शरीर से उत्पन्न रोगों का नाश करने वाली ओषधियाँ अन्यत्र उत्पन्न होती हैं, उन्हें हितकर समझकर शरीर में स्थान देते हैं, खाते हैं। किसी के पैर में जहरवाद हो गया हो तो बुद्धिमान् पुरुष उस अपने शरीर के अंग को भी काटकर पृथक् कर देते हैं और वहाँ अन्यत्र उत्पन्न काठ या लोहे का पैर लगाकर सदा अंग में लगाये रहते हैं, इसलिये

इस दुष्ट पर दया मत करो। साँप को दूध पिलाना विष को ही बढ़ाना है।

नौकरों ने हाथ जोड़कर पूछा—"प्रभो इन्हें हम किस उपाय से मारें।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"जैसे यह मरे वैसे ही मारो। किसी लड्डू में विष मिलाकर खिलादो, दूध आदि में मिलाकर हलाहल विष पिलादो। लोहे आदि की शैया पर सुलाकर उसमें विष प्रयोग करो। अग्नि में बिठा दो। जल में डुबा दो। सारांश यह है, कि जिस उपाय से भी इसके प्राण निकल जायँ, वही उपाय काम में लाओ।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! वे सेवक तो पैसे के दास ठहरे। पैसे के लिये ये सब कुछ कर सकते हैं। अपने स्वामी की उचित अनुचित जो भी आज्ञा हो, उसी का पालन उन्हें सर्वदा करना ही पड़ता था। यद्यपि वे असुर स्वभाव से ही क्रूर थे, फिर भी वे भोले भाले राजपुत्र प्रह्लाद को मारना नहीं चाहते, किन्तु करें क्या उनका स्वामी ही अपने औरस पुत्र को मारने की आज्ञा दे रहा है, अतः वे मारो काटो कहकर अपनी बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ों को निकाल कर फरसे, भाले, त्रिशूल लेकर प्रह्लादजी को मारने के लिये दौड़े, किन्तु जिसकी रक्षा अच्युत करते हैं, उसका कौन बाल-बाँका कर सकता है? अतः उनके अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो गये। तब तो असुरों ने प्रह्लादजी को मारने के लिये अनेकों और भी चेष्टायें कीं। जिनका संक्षेप में वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

च्यौं रे छोरा बात सिखाई कौंने तोकूँ।
सुनि बोले प्रह्लाद पिता सिखवे को मोकूँ॥
विष्णु भक्ति तो नहीं सिखाये तें ई आवे।
सोई होवे भक्त कृष्ण जाकूँ अपनावे॥
तजे न जब तक छल कपट, सत्संगति नहिँ नित करे।
पावे कस प्रभु भक्ति रज, संत चरण सिर नहिँ धरे॥



प्रह्लादजी पर प्रहार

(४६६)

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

कुपित भयो अति असुर पुत्र पृथ्वी पै पटक्यो ।
गर्जन करि कें उठ्यो चर्र सिंहासन चटक्यो ॥
दैत्यनि तें यों कहे दुष्ट कूँ मारो मारो ।
जीवित खाल खिँचाय चील गीधनि कूँ डारो ॥
सुनत असुर झपटे तुरत, वज्रहृदय विकराल मुख ।
छेदें अङ्गनि शूल तें, विविधि भाँति तें दंइ दुख ॥

भगवान् दुख पीछे देते हैं, उसको सहनशक्ति पहले दे देते हैं। बड़े-बड़े रोग जिनकी चिकित्सा अत्यन्त ही व्यय साध्य है, वे निर्धनों, गरीबों को प्रायः नहीं होते। दुख उन्हीं पर पड़ते हैं, जिनमें उन्हें सहने की शक्ति हो। कभी-कभी भग-

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब असुर प्रह्लादजी पर प्रहार कर रहे थे तब उनका मन अनिर्वाच्य अखिलात्मा भगवान् परब्रह्म में लवलीन था। इसलिये उन सबके प्रहार उसी प्रकार व्यर्थ हो गये जैसे पापी पुरुषों की सत्क्रियायें व्यर्थ हो जाती हैं।"

वान् किसी-किसी देह में अपनी शक्ति प्रदर्शित करते हैं। अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि योग की अनेकों शक्तियाँ हैं जिनसे आदमी बड़े से बड़ा छोटे से छोटा, मोटे से मोटा और भारी से भारी हो सकता है, आकाश में उड़ सकता है, तीनों लोकों को वश में कर सकता है, नई सृष्टि रच सकता है। मन को एकाग्र होने पर उसे जिस जिस कार्य में दृढ़ता से नियुक्त करोगे वही हो जायगा। मन में अनन्त शक्ति है। यह सम्पूर्ण संसार मन से ही तो निर्मित है। चित्त के एकाग्र करने के एक दो मार्ग ही नहीं हैं। अनेकों मार्ग हैं, जहाँ पर भी जैसे भी चित्त एकाग्र हो। यथाभिमत ध्यान से भी चित्त की एकाग्रता होती है। जिन्होंने अपना चित्त चितचोर ब्रजकिशोर के चारु चरण में लगा लिया है, वह भी उन्हीं के जैसा हो जाता है। भगवान् अनिर्वाच्य हैं, अतः भगवद्भक्तों में कितनी महत्ता है, इसका कोई कथन नहीं कर सकता। भगवान् सर्वात्मा हैं, अतः भक्त का सुख दुख भी सभी का सुख दुख हो जाता है। उसे स्वयं किसी बात से दुख होता है न सुख। वह तो सदा दुख सुख से परे परमानन्द में निमग्न रहता है। सारांश यह है कि भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं। कोई अन्तर नहीं दोनों एक से हो जाते हैं।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! स्वपराभिनिवेश अज्ञान से होता है। स्वार्थ में अन्धा होकर मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य को भूल जाता है और अपनी ही बात को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करता है। जब प्रह्लादजी हिरण्यकशिपु की इच्छा के विरुद्ध भक्ति की महिमा वर्णन करने लगे, तो उसने उन्हें गोदी में से ही नहीं फेंक दिया अपितु सेवकों को उन्हें मार डालने की आज्ञा दी। राक्षस तो क्रूर होते ही हैं, फिर

वे तो सेवक ठहरे। स्वामी जो आज्ञा दे उसी का पालन करना। अतः वे लोग त्रिशूल घुमाते हुए मारो, काटो, पकड़ो चिल्लाते हुए अपना बल, पौरुष, क्रोध दिखाते हुये प्रह्लादजी की ओर दौड़े। किन्तु उस समय उनका शरीर तो वज्र के समान बन गया था। भगवान् ही भक्त के हृदय रूप भवन में दृढ़ वपु बनकर बैठ गये थे। अब भगवान् को मारने की सामर्थ्य किसमें है, परमात्मा को कौन मार काट सकता है? इसीलिये असुरों के वे प्रहार प्रह्लादजी के मर्म स्थानों में ऐसे लगते थे, मानों कोई कोमल पुष्प का प्रहार कर रहा हो। असि, त्रिशूल, खड्ग, तोमर आदि अस्त्र-शस्त्र प्रह्लादजी के श्री अंग में वैसे ही विफल होते थे जैसे पर्वतों की बड़ी चट्टानों पर मारने से खड्ग व्यर्थ हो जाता है। जिनके चित्त में भगवान् बैठे हैं, भगवद् रूप हो चुके हैं, उनको कोई क्षति कैसे पहुँचा सकता है।

धर्मराज से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब बड़े-बड़े बली असुरों के अस्त्र-शस्त्र भी प्रह्लादजी के शरीर में व्यर्थ हुए, तब तो हिरण्यकशिपु के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने सोचा—"अवश्य इसने कोई जादू टोना सीख लिया है, अवश्य ही विष्णु के पक्षपाती गुप्तचरों ने इसे कोई विद्या सिखा दी है, तभी तो यह इतने प्रहार करने पर भी मरता नहीं। किन्तु मैं अपने शत्रु को जीवित कैसे छोड़ सकता हूँ। जब मैंने इन्द्र वरुण, कुबेर आदि बड़े-बड़े लोकपालों को वश में कर लिया, तब यह तनिक सा छोकरा किस खेत की मूली है। यह चाहे कितनी भी माया क्यों न सीख आया हो, मेरे सामने इसकी एक भी माया न चलेगी। मैं इसे मारे बिना छोड़ूँगा नहीं।" यह सब सोच तो रहा था, किन्तु उसका चित्त शङ्कित हो रहा था। पापी का चित्त सदा शङ्कित बना ही रहता है।

अब उसने अपने सेवकों से कहा—"देखो, हाथी शाला से पूर्व जो पृथक् हाथीगृह है उसमें जो सब से बड़ा मदोन्मत्त हाथी है, उसके सम्मुख इसे ले जाकर डाल दो। वह इसे तुरन्त अपने पैरों के नीचे रौंद देगा।"

सेवकों ने ऐसा ही किया। प्रह्लादजी को ले गये और उन्हें उस मतवाले हाथी के सम्मुख डाल दिया, जो मनुष्य की गन्ध पाते ही उसे चीर डाले। उसके सम्मुख डालकर सेवक अलग हो गये हाथी प्रह्लादजी के सम्मुख आया। उसने उनके श्री अंग को सूँघा और फिर प्रेम से सूँड़ में लपेट कर पीठ पर बिठा लिया। अब तो प्रह्लादजी उसका कान पकड़कर चलाने लगे। वह सीधे सादे भैंसे के समान प्रह्लादजी को चढ़ाकर बिना कुछ उपद्रव किये राजसभा के द्वार पर आकर खड़ा हो गया। मतवाले हाथी को भी प्रह्लादजी की आज्ञानुसार कार्य करते देख, हिरण्यकशिपु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा—"इन हाथियों के विष तो है नहीं। मद में कभी उन्मत्त होते हैं। कभी मद उतर भी जाता है। विषधर सर्पों की दाँढ़ों में सदा विष भरा रहता है। यदि १०, २० बड़े सर्प इसके अंगों में लपेट दिये जायँ तो वे अवश्य इसे डस लेंगे। तीक्ष्ण विष-वाले, क्रूर सर्पों का काटा कोई भी प्राणी नहीं बचता, यहाँ तक कि उनके विष से हरा वृक्ष भी तत्क्षण सूख जाता है।" यही सब सोचकर उसने सेवकों से कहा—"देखो, बड़े-बड़े तीक्ष्ण विष वाले सर्प ले आओ। उनसे इसे कटा दो। तब यह अपने आप ही मर जायगा।

सेवकों को तो विश्वास हो गया था, कि अब यह किसी भी उपाय से नहीं मर सकता। जिसके जड़ चेतन सभी अनु-

कूल हैं, प्रकृति जिसकी चेरी बनी है, उसकी प्राकृतिक उपायों से मृत्यु कैसे होगी।" फिर भी स्वामी की आज्ञा मानना तो उनका कर्तव्य ही था। बड़े-बड़े विषधर सर्पों को वे ले आये। एक चारों ओर से सुरक्षित स्थान में प्रह्लादजी को बिठा दिया गया और उनके ऊपर एक से एक क्रोधी मारकविष वाले सर्प छोड़े। किन्तु वे सब सर्प प्रह्लादजी की गोदी में लोटने लगे। उनके अंगों से लिपट कर क्रीड़ा करने लगे। जिसे अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है—अहिंसा का अभ्यास करते-करते, जिसके चित्त में किसी के प्रति हिंसा के लेश मात्र भी भाव नहीं रहते—तब उसकी सन्निधि में जो भी आता है, वही वैर का परित्याग कर देता है। उसका संसार में कोई वैरी रह ही नहीं जाता, उसका अनिष्ट करने की सामर्थ्य किसी में रहती ही नहीं। ऐसे निर्वैरी को भला सर्प कैसे काट सकते हैं। प्रह्लादजी उन विषधर सर्पों से निःशंक होकर खेलने लगे। उनके दाँत खोल खोलकर देखने लगे। उन्हें हृदय से चिपटाने लगे। हार की भाँति गले में डालने लगे। कंकण केयूर की भाँति अंगों में धारण करने लगे।

इस लीला को देखकर तो हिरण्यकशिपु का मुख फक्क पड़ गया। उसे निश्चय हो गया, कि यह कोई मंत्र तंत्र जानता है। मन्त्र को व्यर्थ मन्त्र ही कर सकता है। अतः मन्त्रतन्त्रों के ज्ञाता स्यानों को बुलाकर इसकी मन्त्र सिद्धि को व्यर्थ बनाने के लिये हिरण्यकशिपु सोचने लगा।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! अब तो हिरण्यकशिपु को चैन नहीं सन्तोष नहीं। सर्वदा प्रह्लादजी के मारने के ही उपायों को सोचने लगा।

छप्पय

सबरी शक्ति लगाय असुर मिलि जुलिके मारें।
चट्ट पट्ट सुनि सिंह व्याघ्र भयतें चिघारें॥
फूल सरिस सब शस्त्र भये दिति सुत घबरायो।
सोच्यो और उपाय मत्त गजराज मँगायो॥
रँदवाये पैरनि तरे, गज बकरी सम बनिगयो।
सूँघि सँड़ि तें सिर धरे, अति सूधो हाथी भयो॥



प्रह्लादजी के मारने के उपाय

(४६७)

दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनैः ।
मायाभिः सनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

पुनि विषधर बुलवाइ कटावे सुत कूँ खलिमति ।
सरल स्याँप सब भये करें क्रीड़ा सुन्दर अति ॥
करवायो अभिचार मूँठ जादू टौना सब ।
भये विफल सब जतन भयो संकित सुररिपु तब ॥
गिरवाये गिरि शिखर तें, बहुतक माया हू करी ।
काल कोठरी महँ दये, पैरनि हू बेड़ी भरी ॥

जिन्होंने सर्वात्मभाव से अपने को प्रभु को अर्पण कर दिया है, वे भारी से भारी विपत्ति आने पर भी उसका प्रतीकार नहीं करते। वे कह देते हैं—"हमने तो अपना तन मन सर्वस्व

---

* नारदजी धर्मराज से कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद जी के वध के लिये उन्हें दिग्गजों से रौंदवाया, विषधरों से कटवाया, अनेक अभिचार कराये, पर्वतों से गिराया, अनेक मायाओं का प्रयोग किया, कालकोठरियों में बन्द करा दिया, विष दिलाया तथा भोजन भी बन्द कर दिया।

उन्हें ही सौंप दिया है, वे जो चाहें सो करें। हमें न अनुरोध करना है न विरोध। इसी प्रकार जो पुरुषाथवादी हैं, अपने निजी पुरुषार्थ से ही सभी कार्यों को सिद्ध करना चाहते हैं। आगत आपत्ति विपत्तियों का अपने प्रयत्न से ही प्रतीकार करना चाहते हैं, वे प्राण रहते प्रयत्न करते रहते हैं, कभी हतोत्साह नहीं होते।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! असुरों से त्रिशूलों द्वारा मरवाने पर, दिग्गजों से रौंदवाने पर, तथा विषधरों से कटवाने पर भी जब प्रह्लादजी का बाल भी बाँका न हुआ, तब हिरण्यकशिपु ने सोचा—"ऐसे यह न मानेगा। प्रतीत होता है किसी मन्त्र के प्रभाव से यह सब विपत्तियों से बच जाता है, अतः इसके ऊपर अभिचार का प्रयोग किया जाय। अभिचार से तामसी शक्तियों के द्वारा स्वतः ही इसकी मृत्यु हो जायगी। यही सब सोचकर उसने बड़े-बड़े स्याने ओझा और जादू टौंना करने वालों को बुलाया।

बुलाकर सबसे पूछा—"तुम लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि क्रियाओं को जानते हो? मैं इस अपने शत्रुरूप पुत्र का बध करना चाहता हूँ।"

इसपर किसी ने कहा—हम मूँठ चलाकर मार देंगे।" किसी ने कहा "हम हवन करके कृत्या उत्पन्न करके उसके द्वारा इसको मरवा देंगे।" किसी ने कहा—"हम ऐसी ऐसी वस्तुएँ इसके यहाँ डलवा देंगे, कि यह सोता का सोता ही रह जायगा, फिर उठेगा नहीं।"

सब की बातें सुनकर असुर ने उन सब को सामग्री के लिये

यथेष्ट द्रव्य दिया। वे अपने इष्टों को स्मरण करके तामस प्रयोग करने लगे, किन्तु सात्विक देव श्री विष्णु के सम्मुख ये तामस भूत, प्रेत, पिशाच, कृत्या आदि क्या कर सकते हैं। जो विष्णु भक्त हैं, जिनके हृदय में सदा सर्वेश्वर का निवास है, उनके ऊपर अभिचार नहीं चलता। कृत्या उनके समीप आने से ही डरती है। उस पर किये हुये मारण मोहन मन्त्रादि सब व्यर्थ हो जाते हैं। इसीलिये इन इतने लोगों द्वारा किये गये कार्यों का प्रह्लादजी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा उनका बाल भी बाँका न हुआ।"

हिरण्यकशिपु ने देखा, इसके ऊपर तो इन मन्त्र तन्त्रों का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। तब उसने सेवकों को बुलाकर कहा इसे सबसे ऊँचे पहाड़ की चोटी पर ले जाओ वहाँ से इसे गिरा दो। पहिले तो गिरते ही पत्थरों से टकराकर ही मर जायगा। यदि बीच में न भी मरा तो नीचे आते-आते तो इसके प्राण अवश्य निकल जायँगे।"

सेवक तो सेवक ही ठहरे। स्वामी की आज्ञा पाकर वे प्रह्लादजी को पहाड़ पर ले गये। उन्हें गिरि शिखर से नीचे डाला, किन्तु प्रह्लादजी का शरीर भगवान् की कृपा से फूल सा हो गया। उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। नीचे ऐसे लगा जैसे किसी ने गोद में उठा लिया हो।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऐसे कैसे हो सकता है, इन बातों में तो हमें कुछ अत्युक्ति सी दिखाई देती है।"
इसपर सूतजी ने गम्भीर होकर कहा—"भगवन्! ये

सब बातें तर्क से सिद्ध नहीं होतीं, इनमें विश्वास ही मुख्य है। यह सत्ययुग की बातें हैं, हमने कलियुग में ऐसी घटनायें प्रत्यक्ष देखी हैं, जो तर्क से किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती।

एक लड़का कूए में गिर गया। तीन दिन पश्चात् उसका पता चला। उसे कूए से निकाला जीवित और स्वस्थ था। पूछने पर उसने बताया। मुझे कोई गोद में लिये हुये था और नित्य दूध पिला जाता था। एक स्थान में भूचाल आई बहुत से आदमी दब गये। तीसरे दिन जब बहुत से लोगों ने मिट्टी पत्थर हटाये तो एक वृद्ध और बालक स्वस्थ निकले। एक दूसरे स्थान में भूचाल हुआ एक गर्भिणी भी सब के साथ दब गई। कई दिन के पश्चात् मिट्टी हटाई गई। वह गर्भिणी स्वस्थ थी, यही नहीं वहीं उसके बच्चा पैदा हुआ और माता पुत्र दोनों स्वस्थ जीवित बाहर निकले। महाराज! ऐसे एक नहीं अनेकों अब भी इस कलिकाल में भी प्रत्यक्ष उदाहरण मिलते हैं। यहाँ तर्क काम देती ही नहीं। सो, महाराज! प्रह्लादजी तो भगवान् के अनन्य भक्त थे। जिसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता नहीं हिल सकता। वायु जिसके भय से बहती है। सूर्य जिसके भय से तपता है, उस सर्व समर्थ की शरण लेने वाले को किसका भय हो सकता है और उसका कोइं बिगाड़ ही क्यों सकता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप सत्य कहते हैं। जो अचिन्त्य भाव हैं, वे तर्क के द्वारा सिद्ध हो भी नहीं सकते। अच्छा तो फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! फिर होता क्या? इधर ज्यों

ज्यों पिता दुःख देता, त्यों-त्यों प्रह्लादजी का भगवान् में विश्वास बढ़ता और उधर दैत्यराज को उतना ही अधिक क्षोभ होता क्रोध आता। नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! जब पर्वतों से गिराने पर भी प्रह्लादजी न मरे, तब तो उसने आसुरी मायाओं को उत्पन्न किया।

सहसा आकाश से गड़गड़ान तड़तड़ान होने लगी। रक्त की वर्षा होती, बिजली चमकती। बड़े-बड़े राक्षस खड्ग, पाश, तोमर और नाना अस्त्र-शस्त्र लेकर उतर रहे थे। हाथ में त्रिशूल लिये डाकिनी साकिनी आतीं और मारो, काटो, पकड़ो कह कहकर चिल्लातीं। यह सब होता रहा, किन्तु प्रह्लादजी आँखें बन्द करके भगवान् के ध्यान में तन्मय हो गये।

जब सब माया भी व्यर्थ हुई, तक प्रह्लादजी को एक काल कोठरी में बन्द कर दिया। उनको इससे तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। अपितु बड़ा आनन्द आया। सोचा—"यहाँ एकान्त में भगवान् का ध्यान निर्विघ्न होगा। वे प्रेमाश्रु बहाते हुये उच्च-स्वर से श्रीकृष्ण कीर्तन करते रहे। एकान्त कोठरी में उन्हें आनन्द पूर्वक भजन करते देखकर हिरण्यकशिपु को बड़ा क्रोध आया। वह अपनी पत्नी कयाधू के पास गया और बोला—"तू मेरी आज्ञा मानेगी, या नहीं?"

पतिव्रता कयाधू ने हाथ जोड़कर कहा—"नाथ! आप यह कैसा प्रश्न पूछ रहे हैं। पतिव्रता पत्नी के लिये पति से बढ़कर पिता, पुत्र, परिजन, पुरजन, सगे सम्बन्धी कोई नहीं। स्त्रियों के पति ही देवता हैं, पति ही इष्ट हैं। स्त्रियों की अपनी निजी इच्छा तो कुछ होती ही नहीं। वे तो अपनी इच्छा को पति की

इच्छा में मिला देती हैं। मेरे तो आप ही सर्वस्व हैं।"

इसपर उस दुष्ट ने कहा—"यदि तू मेरी आज्ञा मानती है, तो मैं कहता हूँ, तू अपने पुत्र को मेरे कहने से विष दे दे।"

रोते-रोते कयाधू ने कहा—"प्राणनाथ! आप यह कैसा प्रस्ताव मुझसे कर रहे हैं? पशु पक्षी भी प्राण देकर अपनी सन्तानों की रक्षा करते हैं। एक सर्पिणी को छोड़कर और ऐसी कौन वज्रहृदया माता होगी जो अपनी सन्तान को मार दे। नाथ! आप सर्वसमर्थ हैं, तीनों लोक आपने अपने भुज-बल से जीत लिये हैं। आप मुझे ऐसी आज्ञा न दें। आप जो चाहें सो करें। माता तो नीच से नीच पुत्र की भी मंगल कामना करती हैं, फिर मैं इतने योग्य पुत्र को अपने ही हाथों विष कैसे दे दूँ।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"मैं यह सब सुनना नहीं चाहता। एक बात बताओ। यदि तुम मेरे साथ रहना चाहती हो, तब तो तुम्हें पुत्र को विष देना ही होगा और यदि तुम पुत्र को प्यार करती हो, तो अभी मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ।"

कयाधू ने सोचा—"अब ये मानेंगे नहीं। मेरी परीक्षा ले रहे हैं—जब मेरा पुत्र मतवाले हाथी से, विषधर नागों से, अभिचार आदि से नहीं मरा तो विष उसे क्या मार सकता है। उसके हृदय में तो विषहारी वासुदेव निवास कर रहे हैं, जो पूतना के स्तनों में लगे विष को पीकर पचा गये थे। अतः उसने हाथ जोड़कर कहा—"हे स्वामिन्! जब यही बात है, तो पति और पुत्र में तो पति का ही गौरव अधिक है। पति के

४

रहने पर अनेकों पुत्र प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु पति के परित्याग कर देने पर स्त्रियों की कोई गति नहीं। जैसी आपकी आज्ञा होगी वही मैं करूँगी।"

हिरण्यकशिपु तो ईर्ष्या द्वेष के कारण पागल बन रहा था। वह प्रह्लाद जी को अँधेरी कोठरी से स्वयं जाकर निकाल लाया और उसकी माता को सौंप दिया।

नारद जी कहते हैं—"राजन्! जो इर्ष्यालु हैं, द्वेषी हैं, लोभी हैं उन्हें अपने सगे सम्बन्धियों पर भी विश्वास नहीं होता। हिरण्यकशिपु अपने हाथ से ही अति तीक्ष्ण हलाहल विष घोलकर ले आया और अपनी पत्नी के हाथ में दे दिया।

स्त्री ने रोते रोते स्नेह और करुणा के आँसू बहाते बहाते काँपते हुए हाथों से वह विष प्रह्लाद जी को दिया। प्रह्लाद जी ज्यों ही भगवान् का नाम लेकर उसे पीने लगे, त्यों ही माता उच्चस्वर से चीख मार कर गिर पड़ी और अचेत हो गई। विष के पूरे प्याले को प्रेम पूर्वक पीकर प्रह्लादजी ने अपनी माता को उठाया और कहा—"माँ! तुम मुझे अमृत पिलाकर भी दुखी क्यों हो रही हो। जननी! जिस वस्तु को जनार्दन का नाम लेकर उनका भोग लगाकर पाया जाता है, वह अमृत से भी बढ़कर हो जाता है। भगवद् प्रसाद से कभी किसी का अनिष्ट न हुआ है न होगा। माँ मैं स्वस्थ हूँ तुम उठकर मुझे प्यार को रो।"

अपने पुत्र के ऐसे वचन सुनकर माता ने उठकर देखा, बच्चा स्वस्थ है हँस रहा है, भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन कर रहा है, तब तो उसे आंतरिक सन्तोष हुआ, किन्तु हिरण्यकशिपु

के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। यह और भी अधिक क्रुद्ध हुआ। किन्तु करता क्या ? उसने अपनी शक्ति भर सभी प्रयत्न किये। जिन जिन कारणों से मृत्यु हो सकती हैं उन सबका प्रयोग किया। जब देखा प्रह्लादजी पर किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ता, जितना ही मैं इसे मारने का प्रयत्न करता हूँ, उतना ही यह अधिकाधिक प्रसन्न होता है, मुझसे द्वेष भी नहीं करता। विष्णु नाम के कीर्तन को भी नहीं छोड़ता, तब तो वह उन्हें मारने के अन्य उपायों को सोचने लगा।

छप्पय

हालाहल विष दयो नहीं कछु भोजन दीयो।
शीत वाततें त्रास दयो, जल भीतर कीयो॥
होरी लेके अग्नि माँहि बैठी मारन हित।
भये नहीं प्रह्लाद तनिक हू प्रन ते विचलित॥
सागर में बैठाइकें, पर्वत ऊपर चुनि दये।
मरे नहीं निकसे तुरत, सब्रे पर्वत गिरि गये॥

———

हरिभक्त को भय कहाँ?

(४६८)

हिमवय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरःसुतम् ॥
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ❀

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

कीन्हें विविध उपाय सफलता नहिं कछु पाई ।
मन महँ चिन्ता करे करूँ का अब हौं भाई ॥
कहे कठिन कटु वचन बहुत विधि तें मरवायो ।
बार न बाँको भयो तनिक हू नहिँ घबरायो ॥
अवसि शत्रुता मानिकैं, विष्णु पक्ष लै लरेगो ।
मैं चाहे मरि जाऊँ परि, जिह बालक नहिँ मरेगो ॥

जिसे मरने की जीवन रक्षा की चिन्ता है, जो कल कैसे काम चलेगा, इसकी चिन्ता करता है, वह पूर्ण भक्त नहीं।

❀ नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! जब उन निष्पाप प्रह्लादजी को हिरण्यकशिपु शीत, वायु, अग्नि, जल तथा पर्वतों के आक्रमणों द्वारा भी मारने में समर्थ न हुआ, तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। अब कैसे यह मारा जाय इसका उसे कोई अन्य उपाय सूझता ही नहीं था।

भक्त को तो न जीवन की चिन्ता न मृत्यु का भय। वह दुःखों से ऊबकर मरना नहीं चाहता और आई हुई मृत्यु को सम्मुख देखकर भागता नहीं। वह तो अपने जीवन की बागडोर श्रीहरि को सौंप देता है। प्रभो ! तुम चाहे जिधर ले जाओ चाहे जैसा घुमाओ। ऐसे अनन्याश्रयी की रक्षा श्रीहरि स्वयं करते हैं। उसके योग क्षेम का भार वे अपने आप वहन करते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—राजन् ! जब विष दिलाने पर भी प्रह्लादजी नहीं मरे तब भी हिरण्यकशिपु ने अपने प्रयत्न शिथिल नहीं किये उसने सोचा—"और चाहें किसी उपाय से यह न भी मरे किन्तु यदि इसे भोजन न दिया जाय, तो यह भूखों तो अवश्य ही मर जायगा।" यही सोचकर उसने प्रह्लादजी को एक कोठरी में बन्द करा दिया उसमें ताला लगाकर ताली अपने पास रखली और ताले पर सील मुहर लगादी, कि कोई किसी भी उपाय से खोलने न पावे।

प्रह्लादजी को तो कोई चिन्ता थी ही नहीं वे भीतर बैठे बैठे उच्च स्वर से—"श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव"। भगवान् के इन सुमधुर नामों का कीर्तन करने लगे। पूरा दिन बीत गया। रात्रि हो गई। प्रह्लादजी को न भूख न प्यास, पहरे वाले दुखी थे, बालक भूखा है। किन्तु उन्हें पता नहीं यह निरन्तर भगवन्नामामृत का प्रेम पूर्वक पान कर रहा है, जिसके पान से आधि व्याधि कुछ भी नहीं होती। दूसरे दिन प्रह्लादजी ने देखा एक सुवर्ण के थाल में ५६ प्रकार के भोग सजकर उसके सम्मुख उपस्थित होगये हैं और कोई कह रहा है—"प्रह्लाद ! यह भगवान् का

महाप्रसाद है, इसे तू प्रेमपूर्वक पाले।"

भक्तों के लिये भगवान् का महाप्रसाद ही सर्वस्व है। प्रसाद प्राप्त होते ही भक्त उसे तुरन्त पा जाते हैं, उसे रखते नहीं देर नहीं करते। यह महाप्रसाद की अवहेलना मानी जाती है। प्रह्लादजी ने जो खीर का सपोटा लगाया, कि प्रहरी चौंक गये। उन्होंने छिद्र से देखा। प्रह्लादजी सुन्दर स्वादिष्ट दिव्य प्रसाद पा रहे हैं, उसकी मनमोहक गन्ध से वह कोठरी सुवासित हो रही है। उस सुगन्ध से ही प्रहरी तृप्त हो गये। उन्होंने जाकर राजा से निवेदन किया—"प्रभो! कुमार तो भीतर ही भीतर कुछ खा रहे हैं।" यह सुनते ही दौड़ा दौड़ा असुर वहाँ आया। ताला ज्यों का त्यों लगा था। सील मुहर भी जैसी की तैसी लगी है। भीतर प्रह्लादजी लच्छेदार रबड़ी उड़ा रहे हैं।"

देखते ही हिरण्यकशिपु क्रोध में लाल तात हो गया और बोला—"क्यों रे, तुझे ये इतने सुन्दर पदार्थ किसने दिये? मैंने तो तुझे कोठरी में बन्द कर रखा है।"

प्रह्लादजी ने उल्लास के साथ कहा—पिताजी! यह कोठरी तो बहुत बड़ी है। माता के पेट की कोठरी तो अत्यन्त ही छोटी थी। उसमें जिसने खाने को दिया, क्या वह यहाँ नहीं दे सकता? जिसने पेट में उस दशा में भोजन पहुँचाया जहाँ हाथ पैर हिल डुल नहीं सकते मुँह फट नहीं सकता। हाथ से उठा कर ग्रास मुख में नहीं दे सकता। तब भी किसी भाँति वह पेट में भोजन पहुँचाता था। उसके लिये इतनी बड़ी कोठरी में जब कि मैं स्वयं खा पी सकता हूँ, भोजन पहुँचाना कौन से आश्चर्य की बात है।"

इस बात को सुनकर हिरण्यकशिपु को तो बहुत ही क्रोध आया। किन्तु करता क्या ? उसने सोचा अब इसे इसमें बन्द रखना व्यर्थ है। अब किसी दूसरे उपाय से इसे मारना चाहिए। यह सोचकर कोठरी से निकाल लिया। फिर उसने प्रह्लादजी को वरफ के नीचे लिटाकर ऊपर से वरफ रख दी। तव भी वे नहीं मरे। वायु में उड़ाया। गरम गरम वायु को छोड़ा। ये सब उपाय भी व्यर्थ हुए। तव तो हिरण्यकशिपु अत्यन्त ही चिन्तित हुआ। वह सोचने लगा—"अब मैं क्या करूँ ?"

उसे चिन्ता में पड़ा देखकर उसकी एक वहिन थी जिसका नाम होलिका था। उसने कहा—"भैया ! तुम इतने चिन्तित क्यों हो ?"

उसने कहा—"वहिन ! क्या वताऊँ। यह मेरा दुष्ट पुत्र मेरे शत्रु का पक्ष लेकर मुझे मरवाना चाहता है। इसलिये मैं इस अपने घर के शत्रु को अभी ही मरवा देना चाहता हूँ। मैंने इसे मरवाने के बहुत से उपाय किये, किन्तु यह किसी भी प्रकार से मरता ही नहीं।"

होलिका ने कहा—"भैया ! तुम चिन्ता न करो, जब तुम्हें इसे मारना ही अभीष्ट है, तब मैं इसे मार सकती हूँ। मुझे ऐसा वरदान प्राप्त है, कि कितनी भी प्रज्वलित अग्नि हो, उसमें मैं बैठ जाऊँ, तो भी न जलूँ। मैं इस वालक को गोदी में लेकर दहकती हुई अग्नि में बैठ जाऊँगी, यह मर जायगा, मैं निकल आऊँगी।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु बड़ा प्रसन्न हुआ उसने इधर

उधर से लकड़ी, काष्ठ, छान छप्पर जो भी कुछ मिला, सब मँगाकर ईंधन का एक पहाड़ सा बनवा दिया। होलिका जब प्रह्लादजी को गोद में लेकर उसमें बैठ गई, तो असुरों ने उसमें आग लगा दी। धू धू करके अग्नि जलने लगी। अग्नि की जितनी ही लपटें उठतीं, प्रह्लादजी उतने ही हँसते। इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए हिरण्यकशिपु ने पूछा—"बेटा, प्रह्लाद! तैंने कोई औषधि खाली है या शरीर में लगाली है कि तू जलता नहीं। तुझे जलती अग्नि के भीतर बैठे रहने में भय नहीं लगता?"

हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"पिताजी! रामनाम जपने वाले के समीप भला भय कैसे फटक सकता है। आप कहते हैं तैंने कोई औषधि खाली है।"सो, हाँ मैंने औषधि ही नहीं महौषधि संजीवनी, जीवन मूर खाली है और निरंतर उसका ही सेवन करता हूँ। उसी की सर्वदा सेवन से मुझे आधि व्याधि जनित पीड़ा नहीं होती। मुझे दुःख नहीं, शोक नहीं, भय नहीं, ग्लानी नहीं, चिन्ता नहीं। आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं। यह अग्नि मेरे चारों ओर जल रही है, किन्तु मेरे समीप भी नहीं आती। मेरे लिये इसकी लपटें शीतल हो रही हैं, मानों मलयाचल की शीतल, मंद सुगन्धित वायु चल रही हो।"

प्रह्लादजी के ऐसे उत्तर को सुनकर असुर लज्जित हो गया। उसने अग्नि से प्रह्लादजी को निकलवाया। प्रह्लादजी के वस्त्र का एक छोर भी नहीं जला था, होलिका उस अग्नि में जलकर भस्म हो गई। प्रातः लोगों ने जब उसे देखा तो उसके ऊपर धूल डाली। उसी दिन से लोक में होली और धूलि ये पर्व प्रचलित हुए। ये राम नाम महिमा के पावन प्रतीक हैं।

हिरण्यकशिपु को द्वेष, ईर्ष्या और भय के कारण रात्रि में नींद नहीं आती थी, वह न जाने क्यों प्रह्लाद से अत्यधिक भय-भीत हो गया। पापी का हृदय सदा भय से भरा रहता है। उसने मंत्रियों से सम्मति की। उनमें से एक मंत्री ने कहा—"महाराज! वैसे तो कुमार के मारने के विविध उपाय किये। उनमें से किसी से भी उनकी मृत्यु नहीं हुई। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि ये किसी वरदान से अजर अमर हो गये हैं। मेरी सम्मति में तो यह आता है कि इन्हें समुद्र के जल में डुबो दिया जाय और ऊपर से बड़े पहाड़ चुन दिये जायँ फिर तो मर ही जायँगे। न मरेंगे तो उसी के नीचे दबे पड़े रहेंगे। हमारी हानि ही क्या करेंगे ?"

यह सम्मति असुर को अत्यंत ही अच्छी लगी। उसने तुरन्त प्रह्लाद जी को समुद्र में डुबाया और हजारों असुरों से बड़े बड़े पहाड़ मँगवा कर उसके ऊपर चुन दिये समुद्र में एक प्रकार की बड़ी भारी कोठी ही बनवादी। प्रह्लाद जी उसी के भीतर बैठकर भजन करने लगे। जब असुर बनाकर चले गये तब प्रह्लाद जी ने कहा प्रभो! अब आप क्या चाहते हैं यहाँ आपके श्री विग्रहों के दिव्य वेषों के दर्शन नहीं, सत्संग नहीं। अच्छी बात है, कुछ न सही आपका भवभय हारी श्रुति मधुर मंजुल मय मनोहर नाम तो है। उसी की निरन्तर रट लगाता रहूँगा। उसी का यहाँ बैठा बैठा कीर्तन करता रहूँगा।"

नारद जी कहते हैं राजन्! इस प्रकार प्रह्लाद जी सोच ही रहे थे, कि वे सब पहाड़ कोठी कोठी जल के ऊपर ऐसे तैरने लगे, मानों पुष्प तैर रहे हों। प्रह्लाद जी उसके नीचे से निकलकर राज सभा में आगये और अपने पिता के चरणों

में प्रणाम किया। इतना कष्ट देने पर भी प्रह्लाद जी ने बुरा नहीं माना न पिता के प्रति मन में कोई दुर्भाव ही रखा। पूर्व-वत् श्रद्धा भक्ति करते रहे।

इसका कारण असुरराज को और भी अधिक खेद हुआ वह अत्यन्त चिन्तित होकर सोचने लगा—बड़े आश्चर्य की बात है कि सगा पुत्र होने पर भी मैंने इसके साथ ऐसे अत्याचार किये, जिन्हें कोई दूसरा कभी कर ही नहीं सकता। फिर भी यह मरता नहीं न जाने ऐसा इसका कौनसा प्रभाव है, कि यह मरता ही नहीं। मैं मन से इससे द्वेष करता हूँ, ईर्ष्या रखता हूँ, किन्तु इसके हृदय पर इन भावों का कोई प्रभाव नहीं। इतना बालक होने पर भी मेरे समीप निर्भय होकर बैठा है। प्रतीत होता है इसे किसी बड़े का भरोसा है। किसी महाशक्ति के आश्रय से यह निश्चिन्त है ! मैंने इसे बहुत कष्ट दिये। संभव है, यह जीवन भर इनको याद करके मुझे कोसता रहेगा। मैंने इसके साथ जो अपकार किये हैं उन्हें यह भूल नहीं सकता। जैसे शुनःशेप अपने पिता के अपकारों को जीवन भर नहीं भूला था।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! शुनःशेप के पिता ने उसके साथ क्या अपकार किया था ?"

इस पर सूतजी बोले—महाभाग ! शुनःशेप की विस्तार से कथा मैं आगे सुनाऊँगा। अब आप यों ही समझें कि उसके पिता अजीगर्त ने उसे यज्ञ पशु बनाकर बेच दिया था। तब वह भयभीत होकर विश्वामित्र जी की शरण में आया। उसे ऋषि ने अपने तप के प्रभाव से बचा लिया था। जब

विश्वामित्रजी ने उसके पिता के पास जाने को कहा, तो उसने स्पष्ट मना करते हुए कह दिया—"मेरे पिता ने तो क्रूरता के साथ मुझे वेच ही दिया। उसके समीप मैं नहीं जाऊँगा। न उस गोत्र में रहूँगा।" तभी से वह विश्वामित्र के गोद में हो गया। सूतजी कहते हैं—"महाराज! यही शङ्का हिरण्यकशिपु को थी कि कहीं प्रह्लाद भी मेरे अपकारों को स्मरण करके मुझसे द्वेष करने लगे और विष्णु से मिलकर छल से मुझे मरवा दे। किन्तु यह उसका भ्रम था, स्वयं उसके पेट का पाप था। भगवद्भक्त किसी से द्रोह नहीं करते, किसी का बुरा नहीं सोचते।

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लादजी के अपरिमित प्रभाव को स्मरण करके हिरण्यकशिपु चिन्ता में पड़ गया। वह किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर अपना आगे का कर्तव्य स्थिर नहीं कर सका।

छप्पय

चिन्ता बहुविधि करे बुद्धि महँ कछु नहिं आवे।
पुनि पुनि सम्मति हेतु पुरोहित मित्र बुलावे॥
ठकुरसुहाती कहें असुर कूँ देइ बढ़ावो॥
ज्यौं अबोध शिशु हेतुनाथ! ऐसे घबरावो॥
तब सम्मुख जिहिं नेकसो, छोरा कैसे लरैगो।
गुरु पितु को अपमान करि, बिना मौत के मरैगो॥

हिरण्यकशिपु को गुरु पुत्रों की सम्मति

४६९

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा,
निधेहि भीतो न पलायते यथा।
बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया,
यावद् गुरुर्भार्गव आगमिष्यति ॥*
(श्री भा० ७ स्क० ५ अ० ५० श्लो०)

छप्पय

बोले गुरु के-पुत्र-नाथ ! मति जाकूँ मारो।
भयवश भागि न जाइ बाँधि पासनि तें डारो॥
आवें श्री गुरुदेव लौटि कें जब तक पुर महँ।
तब तक जाकूँ रखें प्रभो ! हम अपने घर महँ॥
सेवा गुरुजन की करे, कछु वय हू बढ़ि जाय जब।
बालकपन की बुद्धि जिह, बिना यत्न हरि जाय तब॥

मनुष्य जब अपने समस्त प्रयत्नों में विफल हो जाता है,

---

* गुरु पुत्रों ने कहा—'हे दैत्यराज ! इस प्रह्लाद को जब तक गुरुदेव श्री शुक्राचार्य न आवें तब तक वरुण के पाशों से बाँधकर रखना चाहिये, जिससे कि यह डरकर भाग न जाय। सम्भव है तब तक स्वयं ही ठीक हो जाय, क्योंकि प्रायः आयु बढ़ जाने से सत्पुरुषों की सेवा करने से मनुष्यों की बुद्धि स्वयं ही ठीक ठिकाने आ जाती है।

तब यदि वह आस्तिक हुआ, तब तो भगवान् की शरण में जाता है, यदि नास्तिक हुआ, तो कुछ दिन और प्रतीक्षा करके फिर यत्न करता है। आस्तिक को भगवान् की शरण में जाने पर आन्तरिक शान्ति होती है, नास्तिक को चिन्ता, दुःख, खेद ग्लानि और क्षोभ होता है। उसकी बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है, उस विक्षिप्तावस्था में बहुत से आत्मघात कर लेते हैं, बहुतेरे न करने योग्य कार्यों को कर डालते हैं और बहुत से ऐसे विपरीत आचरण करते हैं कि उनकी मृत्यु स्वतः ही हो जाती है।

श्री नारद जी कहते हैं—"राजन्! अब हिरण्यकशिपु को सोते, जागते, उठते बैठते सदा प्रह्लादजी की ही चिन्ता रहती कि यह मेरे शत्रु विष्णु का भक्त है, यह, यदि मरेगा नहीं तो मुझे मरना पड़ेगा। क्योंकि जब मैं विष्णु के भक्त को नहीं मार सकता तो विष्णु को क्या मारूँगा।" इसी प्रकार की अनेकों चिन्तायें वह करता रहता था।

एक दिन वह एकान्त में चिन्तित बैठा था कि शुक्राचार्य के दोनों पुत्र शण्ड और अमक उसके समीप गये, उन दोनों ने जाकर असुरराज का जय जय कार किया और कुशल प्रश्न के अनन्तर पूछा—"प्रभो! आप इतने चिन्तित क्यों हैं?

हिरण्यकशिपु ने कहा—"आप लोग देख नहीं रहे हो, यह मेरा पापी पुत्र कैसा अजर अमर बन गया है। न मरता है न मेरी बात मानता है।"

इस पर गुरुपुत्रों ने कहा—"महाराज! आप भी इतने बड़े होकर किस बच्चे की चिन्ता कर रहे हैं। अजी, हाथी कहीं

चींटी पर प्रहार करता है। कहाँ आप और कहाँ यह नन्हा सा बालक। आप कोई सामान्य शासक तो हैं नहीं, आप के भृकुटि विलास से सम्पूर्ण देवता, लोकपाल आदि समस्त ऐश्वर्यमानी भयभीत होकर भागने लगते हैं। जिन तीनों लोकों पर देवताओं के इन्द्र शतक्रतु का आधिपत्य था, उन लोकों को आपने विना युद्ध किये बात की बात में जीत लिया है, ऐसे आपके सम्मुख यह बालक है किस खेत की मूली। यह बच्चा तो बच्चा ही ठहरा। आपके प्रताप के सम्मुख यह पासंग भी नहीं है। फिर बच्चों की बातों पर ध्यान थोड़े ही दिया जाता है। यह अवस्था ही ऐसी होती है। बालक जो भी दोष कर दें, उनके सब अपराध क्षम्य माने जाते हैं।

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"तब क्या मैं अपने विपरीत आचरण करने वाले को छोड़ दूँ। यदि मैं इसे अब क्षमा करता हुँ, तब तो आगे यह और भी बढ़ जायगा। दूसरों को भी भड़कावेगा। सर्वत्र अराजकता मच जायगी।"

"गुरुपुत्रों ने कहा—नहीं प्रभो! हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि इसे सदा के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। हम तो यह चाहते हैं अभी इसे कुछ अवसर दिया जाय। अभी हमारे पूज्य पिता गुरुदेव भगवान् भी यहाँ नहीं हैं। जब तक वे न आजायँ, तब तक आप इसे ऐसे ही रहने दें।

हिरण्यकशिपु ने कहा—"यदि इसे छोड़ दिया और यह भागकर शत्रुओं से मिल गया तो।"

गुरुपुत्रों ने अवहेलना के स्वर में कहा—"अजी, शत्रुओं

से तो क्या मिलेगा। हाँ, यह संभव भी है, कि प्राणों के भय से भयभीत होकर भाग जाय सो, इसका एक यह उपाय हो सकता है, कि इसे वरुण को पाशों से बाँधकर डाल दिया जाय। हम इसको भागने न देंगे।"

हिरण्यकशिपु तो सब कुछ करके हार ही चुका था। वह तो कोई बहाना खोज रहा था। गुरुपुत्रों ने जब यह कहा, तब वह बोला—"अच्छी बात है, जब आप लोगों की यही सम्मति है, तो यही सही, किन्तु इसकी रेख देख आप लोगों को ही करनी पड़ेगी। देखो और अधिक उद्दंड न हो जाय।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अजी महाराज! उद्दंड क्या होगा, यह अवस्था ही ऐसी गधापचीसी की होती है। कच्ची अवस्था में सद् असद् का विवेक तो रहता नहीं। ज्यों ज्यों अवस्था परिपक्व होती जाती है, बड़ों की, गुरुजनों की संगति करते हैं त्यों त्यों गंभीरता आने लगती है, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक होने लगता है। अतः आप इसकी धृष्टताओं को केवल बाल चापल्य मात्र ही समझें।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु बोला—"अच्छा, आप लोगों की सम्मति मुझे सहर्ष स्वीकार है, किन्तु केवल बाँधे रखने से ही काम नहीं चलने का। आप इसे अपने साथ ले जायँ। बड़ी सावधानी से रखें और असुरराजाओं के जो धर्म हैं उन्हीं का उपदेश इसे करें।"

हिरण्यकशिपु की आज्ञा पाकर प्रह्लाद जी को साथ लेकर गुरुपुत्र अपने घर की ओर चले। प्रह्लादजी तो समदर्शी थे,

उनके लिये सभी स्थान एक से थे। पिता ने जब गुरुपुत्रों के साथ जाने को कहा, तो उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे गुरुगृह चले गये। अब तो शण्ड और अमर्क दोनों गुरुपुत्र बड़े ही मनोयोग से प्रह्लादजी को पाठ पढ़ाने लगे। अन्य दैत्यों के भी बहुत से बच्चे चटशाल में पढ़ने आते थे, किन्तु गुरुपुत्रों को उन्नति तो प्रह्लादजी के ही ऊपर निर्भर थी। राजपुत्र होने के कारण वे उन्हें बहुत डाँट डपट भी नहीं सकते थे। प्रेम पूर्वक असुर धर्म, अर्थ और काम शास्त्र का उपदेश देने लगते। प्रह्लादजी सब सुन तो लेते, किन्तु जो शिक्षा विषय भोगों में आसक्त पुरुषों के लिये ही श्रेष्ठ बताई गई है, वह शिक्षा उन्हें अच्छी नहीं लगती थी क्योंकि वह तो राग द्वेष से भरी हुई थी। शत्रु के साथ ऐसा व्यवहार करो, काम का इस भाँति से सेवन करो, कामिनियों को ऐसे ऐसे व्यवहार से सन्तुष्ट रखो आदि आदि। ये बातें उन्हें प्रिय नहीं थीं। उन्हें तो भगवन्नाम संकीर्तन, भगवत् चर्चा, ज्ञान, वैराग्य की वार्ता, ये ही सब विषय अच्छे लगते थे।

जब प्रह्लादजी गुरुपुत्रों का विरोध नहीं करते, तब उनको विश्वास हो गया, कि यह सुधर जायगा। उन्हें बढ़ावा देने के लिये गुरुपुत्रों ने उनको छात्रों में सर्वश्रेष्ठ बना दिया और कह दिया—"हम न रहा करें तो तुम इन बच्चों को पढ़ा दिया करो।"

अब क्या था। प्रह्लादजी को इससे सत्संग का सुअवसर प्राप्त हो गया। लड़कों में परस्पर मिलकर खेलने कूदने तथा घुल घुल कर बातें करने की स्वाभाविकी रुचि होती है। अवसर पाते ही वे उछलने कूदने लगते हैं किन्तु जो संस्कारी

बालक होते हैं, उनको खेल कूद प्रिय नहीं होता, वे भगवच्चिन्तन, भगवन्नाम संकीर्तन तथा भगवत् कथा के कथन श्रवण में ही अपने समय का सदुपयोग करते हैं।

एक दिन की बात है, कि गुरुपुत्रों के यहाँ कोई पर्वोत्सव था। वे उसमें दूध लाने, दही मँगाने, सामग्री जुटाने में व्यस्त थे। प्रह्लादजी से कह गये—"भैया, तू इन लड़कों की देख रेख रखना हमें आज कुछ काम है।" इतना कहकर वे काम धन्धों में लग गये।

लड़के कम अवस्था के अध्यापक के वैसे ही कम डरते हैं, यदि अध्यापक न रहे तब तो उनका साम्राज्य ही हो जाता है पुस्तक को छूते नहीं, कक्षा में बैठते नहीं फिर तो कबड्डी आरम्भ हो जाती है। गुरुपुत्रों के जाते ही लड़कों में भगदड़ मच गई किसी ने कहा—'हम गुल्ली डंडा खेलेंगे,' किसी ने कहा भड्डू हो, कोई बोला—"नहीं भैया सुरंग घोड़ी का खेल हो।" कोई कूदने लगे, कोई उछलने लगे, कोई अपनी धोती को समेट कर ताल ठोकने लगे। कोई किसी से भिड़ गया, कोई चिढ़कर रो पड़ा। कोई उसे मानता है, कोई पुचकारता है, कोई गुल गुली करता है। क्षण भर में पाठशाला क्रीड़ाशाला तथा मल्लशाला बन गई। किन्तु प्रह्लाद जी कक्षा में ही चुपचाप बैठे ध्यान कर रहे थे। इस पर एक चंचल से लड़के ने कहा—"अरे, भैया! तू अकेला वहाँ क्या बैठा है आजा तू भी खेल। तू समझता होगा, मैं राजा का पुत्र हूँ। सो भैया! खेल में कौन राजा कौन रंक। खेल में तो सब एक से ही हैं।"

यह सुनकर प्रह्लादजी ने सोचा—"देखो, इन सभी के सिर

पर काल मंडरा रहा है। मृत्यु पैर दबाये नित्य प्रति इनके अधिकाधिक समीप आ रही है और ये अभी खेल कूद में ही लगे हैं। उन भूले हुए दीन असुर बालकों पर दयालु स्वभाव प्रह्लादजी को दया आ गई। वैष्णवों का यह स्वभाव ही होता है, वे दीनों पर अकारण दया करते हैं परपीड़ा से उनका अन्तः करण पिघल जाता है। इसीलिये प्रह्लादजी उन पर कृपा की दृष्टि करते हुए प्रेम दृष्टि से देखकर हँसते हुए बोले—"अच्छा आओ हम आज एक नया खेल खेलें। वह ऐसा खेल होगा, कि उसे यदि भली भाँति खेल गये तो यह संसारी खेल सदा के लिये समाप्त हो जायगा।

बच्चों को तो कुतूहल होता ही है। उनका हृदय सरल होता है, उसमें राग द्वेष तो होता नहीं। प्रह्लादजी पर उनका पहिले से ही प्रभाव था। वे उनके शील, सदाचार से पहिले ही प्रभावित थे, राजपुत्र भी थे सभी उनका आदर करते थे, उनमें गौरव बुद्धि रखते थे। उनकी बात सुनकर सब अपनी खेल कूद की सामग्री—गेंद, गुल्ली, डंडा—छोड़ कर प्रह्लादजी को घेरकर बैठ गये। अब बीच में प्रह्लादजी आस पास चारों ओर उनके मुख कमल में अपनी दृष्टि गड़ा कर असुर बालक बैठ गये। अब भक्ति की पाठशाला प्रारम्भ हुई।

नारदजी कहते हैं—"राजन्। उस प्रह्लाद की भक्ति पाठशाला के कुछ पाठ आप भी सुनना चाहें तो मैं आपको सुनाऊँ ?"

बड़ी उत्सुकता से धर्मराज बोले—"हाँ, हाँ महाराज ! अवश्य सुनावें। ये ही तो सुनने की बातें हैं। आप जितने

ही अधिक पाठ सुनावेंगे उतना ही अधिक मुझे आनन्द होगा।

धर्मराज की उत्सुकता को देखकर नारदजी बोले—"राजन्! अच्छी बात है, अब आप भक्ति पाठशाला का प्रथम पाठ प्रेम पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

विवश भयो सुर शत्रु बात तिनकी स्वीकारी।
कह्यो जाइ लै जाउ देउ शिक्षा हितकारी॥
संग लियो प्रह्लाद गये गुरुपुत्र भवन महँ।
सुधरे कैसे बाल जिद्दी सोचें ते मन महँ॥
अर्थ काम अरु नीति की, शिक्षा देवें जाइकें।
सहपाठिनि प्रह्लाद जी, सिखवें अवसर पाइकें॥

प्रेम पाठशाला का प्रथम पाठ

४७०

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ६ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

एक दिना गुरु गये करन घरके काजनि कूँ ।
ढिँग बिठाइ प्रह्लाद देहिँ शिक्षा छात्रनि कूँ ॥
है दुरलभ नरदेह नाश होवैगो जाको ।
होवै प्रभु पद प्रेम सारथक जीवन ताको ॥
सुख तो होवै दैव वश, क्यौं जाकूँ पचि-पचि मरो ।
प्रभु पद पदुमनि प्रेम हित, होवै जिह चिन्ता करो ॥

संसार का ऐसा नियम है, कि जो वस्तु जिसे अत्यन्त प्रिय होती है, उसे वह सर्वश्रेष्ठ समझता है। यदि वह उदार है,

---

* प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो, भैया ! पंडित पुरुष को इस संसार में भागवत धर्मों का पालन कुमारावस्था में ही करना चाहिये। यह मनुष्य शरीर यद्यपि नाशवान् है, फिर भी इसके

तो उसके सेवन की सबको सम्मति देता है। सबको उसका वितरण करता है, अवसर पाते ही उसीकी चर्चा करता है। उसीके प्रचार प्रसार के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है। हमें कोई रोग है, किसी ओषधि से हम अच्छे हो गये हैं, तो जिसे भी हम उस रोग से ग्रस्त देखेंगे, उसे ही उस ओषधि के सेवन की सम्मति देंगे। कारुणिक पुरुषों का यह सहज स्वभाव ही होता है।

श्री नारदजी धर्मराज से कहते हैं—"राजन्! जब दोनों गुरुपुत्र अपने घर के कार्यों में व्यस्त थे, पाठशाला में प्रह्लाद जी और उनके सहपाठी ही विद्यमान थे। बालक तो अपने स्वभावानुसार क्रीड़ा ही में तन्मय थे, किन्तु प्रह्लादजी गंभीरता पूर्वक कुछ और ही सोच रहे थे। बच्चों को क्रीड़ा में आसक्त देखकर उन्हें उन सब पर दया आई। वे सोचने लगे—"देखो, यह समय कितना अमूल्य है। एक एक क्षण दुर्लभ है। उस समय का ये बालक कैसा दुरुपयोग कर रहे हैं, किस प्रकार इसे व्यर्थ बिता रहे है। यदि इस समय में ये कृष्ण कीर्तन करें, हरिचर्चा में लगें, तो इनका जीवन धन्य हो जाय, ये संसार के आवागमन से सदा के लिये छूट जायँ। जन्म-मरण के असंख्यों दुःख इन्हें सहन न करने पड़ें।"

वे ये बातें सोच रहे थे, कि कुछ लड़कों ने उनसे भी खेलने का प्रस्ताव किया। उन्होंने सबको अपने आस पास बिठा लिया और कहने लगे—"अरे भैया ओ! मेरी बात सुनो। देखो,

---

द्वारा आत्मा की प्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होता है, इसीलिये यह बड़ा दुर्लभ है। इस मनुष्य जन्म में जीव का एक मात्र कर्तव्य भगवान् के चरणों की शरण लेना ही है। कारण कि वे श्रीहरि ही समस्त प्राणियों के आत्मा, प्रिय' ईश्वर और सुहृद् हैं।

इस खेल कूद में क्या रखा है। संसार के कितने लोग खेलते



खेलते ही मर गये। वे दुःख में ही जनमें दुख में ही पले और दुःख को ही साथ लेकर इस संसार से विदा हो गये। इसलिये इन धन रत्नों में, संसारी भोगों की प्राप्ति में कुछ नहीं रखा है। आत्मोन्नति के लिये कुछ प्रयत्न करना चाहिये। अनर्थ को छोड़ कर परमार्थ का चिंतन करना चाहिये।"

इस पर बालकों में से एक ने कहा—"कुमार! हमें तो गुरु सदा, धर्म, अर्थ, काम और राजनीति की ही शिक्षा देते रहते हैं। आत्मा-परमात्मा के चक्कर से तो वे हमें सदा बचने के लिये कहते हैं।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—देखो, भाई! आत्मा का हित अहित तो स्वयं ही सोचना चाहिये। जिससे अनर्थ की प्राप्ति प्रत्यक्ष दीखती हो, ऐसे वचन गुरु के भी न मानने चाहिये। जो युक्तियाँ अज्ञान रूप गहरी निद्रा में सोये हुए को जगाने में समर्थ न हों, उन्हें मानना उचित नहीं। स्वयं जो सोया हुआ है, वह दूसरों को क्या जगावेगा। स्वयं जो अंधा है, वह दूसरों का पथ-प्रदर्शन कैसे करेगा। आत्मा का न कोई शत्रु है, न मित्र और न उदासीन। ये संसारी सुख-दुख तो प्रारब्ध के अधीन हैं। इसलिये इन बाहरी विषयों में फँसकर आत्मा का अधः पात न करना चाहिये। परम पुरुषार्थ रूप जो प्रेमास्पद प्रभु हैं उन्हीं की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न करना चाहिए।

असुर बालकों ने कहा—"अरे, भैया! तू तो बालक होकर बूढ़ों की सी बातें कर रहा है। बाल्यावस्था तो खेलने कूदने के लिये है। अभी से आत्मा-परमात्मा के पचड़े में पड़ने से प्रयोजन ही क्या? यदि आवश्यक ही होगा, तो वृद्धावस्था में माला लेकर खटकाने लगेंगे। तब राम राम रटा करेंगे।

प्रह्लादजी ने शीघ्रता से कहा—अरे, तब क्या रटोगे ? बाल्यकाल से ही संस्कार पड़ जाते हैं, वे ही आगे चल के स्थाई हो जाते हैं, अतः भागवत धर्मों का आचरण तो कुमारावस्था से ही करना चाहिए। जीव का प्रधान कर्तव्य यही है।"

असुर बालकों ने कहा—"इन पशु पक्षी वृक्ष आदि को हम देखते हैं, ये तो निरंतर आहार, निद्रा मैथुनादि में ही संलग्न रहते हैं। इन्हें तो हमने आत्मा-परमात्मा के चक्कर में फँसते देखा नहीं।" इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"पशुओं में और मनुष्यों में यही तो अन्तर है। देह सम्बन्धी सुख के लिये, विषयों की प्राप्ति के लिये तो सभी प्राणी प्रयत्नशील हैं। मानव जन्म में यही विशेषता है, कि इसके द्वारा मुक्ति, भगवत प्राप्ति तक हो सकती है। चौरासी लाख योनियों में मनुष्य देह को इसीलिये तो सर्वश्रेष्ठ बताया गया है कि इसके द्वारा परमार्थ साधन हो सकता है। वैसे तो यह शरीर अनित्य तथा नाशवान् है, किन्तु इसके द्वारा नित्य और शाश्वत वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। अध्रुव देह से ध्रुव स्वरूप श्री हरि की उपलब्धि हो सकती है। कौन बुद्धिमान् इस सस्ते सौदे को करना न चाहेगा। मूर्ख और अबोध को छोड़कर कौन इस लाभ से अपने को वंचित रखेगा।"

असुर बालकों ने कहा—"भैया, तू तो बड़ी आश्चर्य की सी बातें कह रहा है। अरे, इन्द्रियों के शब्द रूप, रस, गंध और स्पर्श ये जो विषय हैं, ये मन को अत्यन्त प्रिय हैं। इन विषयों की प्राप्ति के लिये उद्योग करना यही तो हम मुख्य कर्तव्य समझे बैठे हैं। तू इन्हें हेय और तुच्छ बता रहा है,

तब फिर करें क्या ? मनुष्य का मुख्य कर्तव्य क्या रहा !"

प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भाई ! इस मनुष्य जन्म में भगवान् वासुदेव के चरणों की सर्वतोभावेन शरण लेना ही जीव का एक मात्र, सर्वश्रेष्ठ और मुख्य कर्तव्य है। क्योंकि भगवान् विष्णु को छोड़कर दूसरा कोई न प्रिय पदार्थ है, न उनसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ है। वे सबके आत्मा, प्रियतम सुहृद् और सबके स्वामी हैं।"

इसपर असुर बालकों ने कहा—"भैया, तुम तो हो राजा के पुत्र। तुम्हें सब भोग सामग्रियाँ स्वतः ही प्राप्त हैं। तुम्हारा तो ऐसा सोचना उचित भी है। किन्तु हम लोग यदि प्रयत्न न करें तो भोजन कहाँ से आवे, शरीर स्वस्थ और सुखी कैसे रहे। सन्तानोंत्पत्ति कैसे हो। मनोभिलषित इन्द्रियोपभोग कैसे प्राप्त हों। जितनी सुख की सामग्रियाँ हैं वे सब तो प्रयत्न से, पुरुषार्थ से ही प्राप्त होंगी। प्रयत्न न करें, हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें, तो जीवन कैसे रहेगा। सिंह भाग्य के सहारे ही बैठा रहेगा, तो हिरन अपने आप आकर उसके मुख में थोड़े ही घुस जायँगे, कि हमें खा लो। अतः भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।"

प्रह्लादजी ने इस बात को सुनकर कहा—"देखो, भाई ! लड़कपन तो करो मत। बाल चापल्य को छोड़कर गम्भीरता पूर्वक इसपर विचार करो। राजा हो या रङ्क, धनी हो या निर्धन सभी को सुख सामग्रियाँ भाग्य के ही अनुसार मिलती हैं। बहुत बड़े धनिक हैं, भोजन की सब सामग्रियाँ समुपस्थित हैं। उन्हें संग्रहणी हो गई। चिकित्सकों ने मना कर दिया छाछ को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु न लें। तो रहने पर भी उसके लिये सब वस्तुएँ व्यर्थ हैं, अप्सराओं के समान

सर्वाङ्ग सुन्दरी आज्ञाकारिणी सुशील सर्व सुलक्षणा धर्मपत्नी है। पुरुष को कोई असाध्य रोग हो गया, नपुंसक हो गये। न होने के समान है। इसी प्रकार पदार्थों के समीप रहने पर भी भाग्य न हो तो उन्हें भोग नहीं सकते। बहुत से लोग सुख के लिये सर्वदा सतत प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें सुख नहीं मिलता। इसके विपरीत कौन चाहता है हमें ज्वर आवे, घाव हो, फोड़ा हो, पुत्र शोक हो, कन्या विधवा जाय, पुत्र अयोग्य हो जाय, मित्र विश्वासघात करे, अन्न के बिना उपवास करने पड़ें, किन्तु न चाहने पर भी ये दुःख प्रारब्ध वश आ ही जाते हैं, अनिच्छा पूर्वक ही सही उन दुःखों को भोगना ही पड़ता है। जब यही बात है, तब जैसे, बिना चाहे दुख आ जाते हैं, वैसे ही प्रारब्ध में होंगे तो सुख भी स्वतः आ जायँगे, प्रारब्ध में न होंगे तो प्रयत्न करने पर भी सुखों की प्राप्ति न होगी। तब इन्द्रिय जनित सुखों के लिये प्रयास करना मुझे तो अनुचित ही जान पड़ता है।"

इस पर पुरुषार्थवादी असुर बालक बोला—"प्रह्लादजी यह बात तो हमारी बुद्धि में बैठती नहीं। बिना कुछ प्रयत्न करे पुरुषार्थ के भरोसे बैठे रहना हमें तो उचित जान नहीं पड़ता। प्रयत्न करने पर भी बहुत से लोगों को इच्छानुसार भोग सामग्रियाँ प्राप्त नहीं होतीं, तो यह समाज का दोष है धनिक वर्ग, श्रम जीवियों को चूसते हैं। पूँजीपति भृत्य वर्ग को सताते हैं। इसमें भाग्य का क्या दोष ? भाग्य के निर्माता तो हम स्वयं हैं। पूर्वजन्म के किये पुरुषार्थ से ही तो प्रारब्ध की रचना होती है। अतः यह प्रारब्ध के भरोसे निरुद्योगी होना हमें तो उपयुक्त जँचता नहीं।"

प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, सुख-दुख का दाता कोई दूसरा

नहीं है। स्वकृत पुण्य पाप को ही मनुष्य भोगता है। अमुक हमें दुख देता है, अमुक सताता है, ये भाव राग, द्वेष, ईर्ष्या डाह मत्सर से पैदा होते हैं। दूसरों के वैभव को देखकर हृदय में जो एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न होती है उसी के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसी बातें करता है समाज में तो सदा से विषमता रही है और सदा ही रहेगी। सब पर समान सम्पत्ति रहे यह एक तो संभव नहीं। मानलो सांसारिक सम्पत्ति समान हो भी जाय तो आयु, बुद्धि, बल, विद्या, कला, कौशल, सौन्दर्य, आकृति प्रकृति में तो विभिन्नता रहेगी। आज धन कृत विभिन्नता है, कल जातिकृत, बुद्धिकृत, बलकृत विभिन्नता होगी। अधिक बुद्धिमान् कमबुद्धि वालों को दबा कर मन माना कार्य करा लेंगे। सृष्टि की रचना ही विभिन्नता से हुई है। साम्य में सृष्टि नहीं, गुणों की विषमता में ही सृष्टि संभव है। अतः सांसारिक सुख दुख सदा प्रारब्धानुसार ही होंगे। समाज की रचना चाहे जिस सिद्धान्त पर की जाय विषमता नहीं मिट सकती। विषमता मिट जायगी प्रलय हो जायगी। तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। विषमता में ही विकृति होती है। बस प्रारब्ध पृथक् पृथक् हैं। प्रारब्धा नुसार सुख दुख अवश्य होता है। जैसे इच्छा न करने पर दुख हो जाता है, वैसे ही इच्छा न होने पर भी भाग्यवश सुखोपभोग प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये अनायास प्राप्त होने वाले इन्द्रिय जनित सुखों के लिये चिंता ? चिन्ता तो प्रभु प्रेम के लिये करनी चाहिये।"

असुर बालकों में से एक ने पूछा—"जैसे सुख दुख प्रारब्धानुसार प्राप्त होते हैं, वैसे ही प्रभुप्रेम भी प्रारब्ध से प्राप्त होना होगा तो हो जायगा, उसके लिये भी फिर चिन्ता क्यों ?"

इस पर प्रह्लाद जी बोले—"यह सत्य है, जब प्रभु प्रेम प्राप्त होना होगा, अवश्य हो जायगा। प्रेम प्रयत्न साध्य है भी नहीं। कुछ विचार न करना सर्वथा प्रारब्ध पर ही जीवन को छोड़ देना यह सिद्धावस्था है, किन्तु जब तक मन बुद्धि हैं, तब तक मनुष्य बिना कुछ सोचे, बिना तर्क वितर्क किये रह नहीं सकता। इसीलिये मनुष्य को साधक कहा है। यदि साधन करना ही हो, विचार करना ही हो, तो प्रभु के सम्बन्ध में करे। कथा कीर्तन का प्रचार प्रसार हो, जीवन में प्रेम का संचार हो, हृदय में भगवद् भक्ति का अंकुर उत्पन्न हो, इसके लिये साधन करना श्रेष्ठ है। यही मनुष्य जीवन का मुख्य कर्तव्य है।

इस पर एक लड़के ने कहा—"यदि ऐसा ही है तो युवावस्था में भली भाँति सुखोपभोग करलें। विषय भोगों से तृप्ति हो जाय, तो परमार्थ चिन्ता फिर करेंगे।"

यह सुनकर हँसते हुए प्रह्लादजी ने कहा—"संसार में आज तक किसकी विषय वासना तृप्त हुई है जो तुम्हारी ही होगी। अरे जैसे अग्नि में जितना ही घी डालो उतनी ही उसकी लौ बढ़ती है, उसी प्रकार विषयों का जितना ही सेवन करो उतनी ही लालसा बढ़ती है। मरते समय तक भोगी की वासना नहीं छूटती। फिर परमार्थ साधन तो स्वस्थ निरोग शरीर से ही भली भाँति हो सकता है। इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, वृद्धावस्था ने शरीर को जर्जर बना दिया, तब फिर क्या साधन करोगे। अतः जब तक यह सर्वावयव पूर्ण मानव शरीर विपत्तिग्रस्त न हो, तब तक ही भव—भय में पड़े विवेकी पुरुष को अपने कल्याण का उपाय कर लेना चाहिये।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"प्रह्लादजी! परमार्थ चिंतन

के लिये आप इतना बल क्यों दे रहे हैं। ऐसी शीघ्रता क्या है, इतनी लम्बी आयु पड़ी है। कुछ दिन खेल खा लें, विषयों के मोहक रस का स्वाद चख लें, कुछ दिन के पश्चात् आत्मा परमात्मा के विषय में सोचेंगे।"

प्रह्लादजी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"तुम आयु को इतनी बड़ी क्यों कहते हो? क्या किसी को निश्चय है कि हम इतने दिन जीवित रहेंगे। अच्छा मान लो पुरुष को शतायु कहा है। देवता, असुर आदि उपदेव मनु, प्रजापति, ऋषि, जीव इनकी आयु का तो परिमाण नहीं, चाहे जितने दिन जीवें कोई कोई मन्वन्तर तक जीवित रहते हैं, कोई कल्प जीवी होते हैं। कोई कोई ब्रह्मा की आयु से भी बड़े होते हैं। किन्तु जिस मनुष्य योनि को साधक बताया है जिसमें मुमुक्षता—मोक्ष की इच्छा विद्यमान् है उसकी १००वर्ष की आयु मान लो, तो उसमें आधी तो सोने आदि में चली जाती है। आधी के चार भाग कर लो। बालकपन, युवावस्था, अधेड़ और वृद्धावस्था; बाल्यावस्था और कौमारावस्था के २०।२५ वर्ष तो गधा पचीसी में चले जाते हैं, उनमें तो खाना पीना सो जाना और इधर उधर की अंड बंड बातें सोचना-यही होता है। उस समय कुछ करते हैं तो लोग यह कहकर टाल देते हैं—"अजी अभी बच्चा ही तो है। अन्त के २०।२५ वर्ष वृद्धावस्था में खटिया पर खो खों करते बीतते हैं लठिया के सहारे चलते हैं, बुढ़िया भी बात नहीं पूछती। हंड़िया में भोजन पानी मिलता है। उस समय तो शरीर शिथिल हो जाता है, बल घट जाता है, किन्तु ममता अधिकाधिक बढ़ती जाती है। इस प्रकार आयु के दो भाग तो यों ही मटरगस्ती में बीत गये।

इस पर असुर बालकों में से एक ने कहा—"अच्छा शेष

समय में ही भगवत् चिन्तन करेंगे।"

इसपर हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"शेष रही युवावस्था और अधेड़। सो तुम तो अभी बच्चे ही ठहरे। युवावस्था में कैसी मादकता आती है, चित्त में कैसी कैसी लहरें उठती रहती हैं, उसे वही जानता है, जिसने युवावस्था में पदार्पण किया हो। उस समय यह संसार विचित्र ही दीखता है। मन किसी अव्यक्त भाव में भर हिलोरें लेता रहता है। कामाग्नि इतनी प्रबल हो जाती है कि उसकी प्रचंड ऊर्मियों में कर्ताव्याकर्तव्य का ज्ञान भस्म हो जाता है, रोम रोम से उन्माद फूटने लगता है। गृह में तथा गृहिणी में अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। उस समय न आत्मा की चिन्ता होती है न परमात्मा का ध्यान। जिस किसी प्रकार विषय भोगों में सामग्री उपलब्ध हो, वैषयिक सुख प्राप्त हों यही एक मात्र उत्कट इच्छा बनी रहती है। अतः बाल्य और कौमार को स्वच्छन्द बिताकर जो युवावस्था में भगवत् चिन्तन की बात सोचते हैं, वे भूल करते हैं। अतः भागवत धर्मों का आचरण तो कुमारावस्था से ही करना चाहिये। इसलिये प्रेम पाठशाला का प्रथम पाठ तो यह है, कि बाल्यकाल में जब से भी स्मृति सम्हाले, तभी से भगवान् की ओर चित्त को लगा दे यह तब होगा, जब चित्त इन सांसारिक बाह्य विषयों से विरक्त होगा।"

यह सुनकर एक असुर बालक ने पूछा—"विषयों से वैराग्य होने में कुछ कठिनता है क्या ?"

हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भैया ! कठिनता क्यों नहीं। वैराग्य कोई हँसी खेल नहीं, गुड़ का पूआ नहीं, जो गप से खा गये। लोहे के चने हैं। ये सभी विषय हमें हठात्

अपनी ओर खींच रहे हैं। और मन में इनकी अभिलाषा छिपी है। ऐसी दशा में किसी भाग्यशाली को ही वैराग्य होता है। इस विषय को मैं विस्तार से सुनाता हूँ, तुम दत्तचित्त होकर सावधानी से इसे श्रवण करो।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! यह कह कर प्रह्लादजी वैराग्य की दुरूहता बताने लगे।

छप्पय

करै कवल कब काल कहो को जाने जग महँ।
सदा घात महँ रहै पकरि लै जावै पल महँ॥
क्रीड़ा महँ कौमार व्याधि महँ बितैं बुढ़ाई।
मादकता अँग अँग युवावस्था महँ छाई॥
तातैं शिशुपन तैं सतत, भूलि जगत के करम कूँ।
करो आचरन प्रेम तैं, शुद्ध भागवत धरम कूँ॥

———

गृहस्थ को वैराग्य होना अत्यन्त कठिन है

४७१

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः,
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनाम्,
कलाक्षराणामनुरक्त चित्तः ॥*
(श्री भा० ७ स्क० ५ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

नहीं कठिन वैराग्य होहि नहिं यदि द्वै जगमहँ ।
कनक कामिनी पाश न लिपटें यदि नर-पगमहँ ॥
प्राननि पैऊ खेलि करै पैदा जा धन कूँ ।
तामें अति आसक्त हटावैं कैसे मन कूँ ॥
अति प्यारी प्रियतमा की, बानी सरस सुधा सनी ।
कैसे छोड़े शिशुनिकी, तोतरि बानी सोहनी ॥

मन में विषयों के प्रति स्वाभाविक अनुराग है और विषयों

---

* प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो, भैया ! जिसका चित्त अपने स्नेह करने वाली प्रियतमा पत्नी के एकान्त सहवास में, मीठी-मीठी प्रेम की बतोड़ियों में आसक्त है, तथा वन्धु बान्धुओं के प्रेम बालकों की तोतली प्यारी वाणी में फँसा है, उसे वैराग्य कैसे हो सकता है ?

में मन को आकर्षित करने की शक्ति है। ऐसी दशा में संसार के सभी पदार्थ हमें अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। किन्तु जो इन्द्रिय सुखों के लिये अधिक उपयोगी हैं, अधिक आकर्षक हैं, वे अत्यधिक खींचते हैं। इनमें काञ्चन और कामिनी हैं ये दो तो सर्वतोभाव से विमुग्ध बना लेते हैं। और चाहे सब को मनुष्य छोड़ दें, किन्तु ये दो घाटी ऐसी कठिन हैं, कि कोई विरला ही इन्हें पार कर सकता है, नहीं तो बड़े-बड़े इन्हीं में रह जाते हैं। पुरुष को स्त्री का, स्त्री पुरुष का—जहाँ सङ्ग मिल गया, तहाँ मनुष्य परलोक को भूलकर यहीं स्वर्ग तथा वैकुण्ठ का अनुभव करने लगता है। एकान्त अरण्य में कोई कवि अपनी प्रियतमा के साथ बैठे थे। दोनों भूखे थे, कवि से पत्नी ने पूछा—"तुम्हारी अंतिम अभिलाषा क्या है, तुम किस स्वर्गीय सुख की आकांक्षा करते हो। इस पर अत्यन्त गम्भीर होकर कवि ने कहा :—

इस तरु तले कहीं खाने को रोटी का टुकड़ा हो एक।
पीने को मधु पूर्ण पात्र हो करने को हो काव्य विवेक।
तिस पर तुम भी मेरे ढिंगही बैठि वगल में गाती हो।
तो मेरे लीये इस वनमें स्वर्ग राज्य का हो अभिषेक।

जीवनोपयोगी वस्तुएँ (धन से) मिल जायँ और प्रियतमा पास में हो, तो फिर अन्य स्वर्ग की अपेक्षा नहीं। यहीं स्वर्ग बन जायगा।

इसी प्रकार किसी ग्रामीण कवि से पूछा गया—"तुम्हारे जीवन का लक्ष्य कैसे स्वर्ग या वैकुण्ठ को पाने का है ?" इस पर उसने कहा :—

भुँइयाँ खेरे हर होहिं चार।
घर होहिं गिहथिन गऊ दुधार॥
रहर की दाल जड़हन को भात।
कागदी निबुआ अरु घिउ तात॥
षटरसखंड दही जो होय।
वांके नैन परोसें सोय॥
कहें घाघ फिरि सब कुछु झूँठा।
वहैं छोड़ि यह ही बैकूँठा॥

अर्थात् अपने गांव के समीप ही खेती हो। चार हल चलते हों। घर में घरवाली अवश्य हो। दूध देने वाली गौ भी अवश्य हो। घर में अरहर की दाल और जड़हन के भात की कमी न हो। अरहर की दाल में यदि कागदी नींबू निचोड़ दिया जाय और गरम करके घी छोड़ दिया जाय तब तो कहना ही क्या। यह सब हो तो सही किन्तु रसोया न परसे, बांके नैनोंवाली ही बार बार हँसती हुई प्रेमपूर्वक परसे तो कविवर घाघ कहते हैं, हमें अन्य किसी बैकुण्ठ की अपेक्षा नहीं। यहीं घर बैठे बैकुण्ठ बन जायगा। सारांश जीवनोपयोगी सामग्रियाँ हों, और सुख दुःख में हाथ बँटाने वाली सहधर्मिणी हो तो मनुष्य को न स्वर्ग चाहिए न बैकुण्ठ।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! बाल्यकाल से ही भागवत धर्मों के पालन करने की आवश्यकता बताकर प्रह्लादजी अब वैराग्य की कठिनता बता रहे हैं। असुर बालकों से वे बोले—"दैत्य बालको! देखो, जिन्होंने घोर साधनों द्वारा अपने चंचल चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को एकत्र करके प्रभु पादपद्मों में उन्हें नहीं लगा दिया है, जिन्होंने विषयों की ओर बहती हुई इन्द्रियों की वृत्तियों का भली

भाँति निरोध नहीं कर लिया है, ऐसे अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिये संसार से वैराग्य होना महान् दुर्लभ है। लोग कहते तो हैं, कि प्राण सब से प्यारे हैं, किन्तु इन प्राणों की भी बाजी लगाकर मनुष्य धन का उपार्जन करता है। देखो, चोर जब चोरी करने चलता है, तो कितना साहस करके चलता है। चलते समय सिर को हथेली पर रखकर जाता है। देखिये धन के लिये वह कितनी विघ्नबाधाओं को सहता है। रात्रि में उसी से सावधान रहने को प्रहरी निरंतर पहरा देते रहते हैं। धनी लोग अस्त्र शस्त्र समीप रखकर बड़े यत्न से सुरक्षित स्थान में सोते हैं, धन को वैसे ही रख देते हों, सो बात भी नहीं। ७ पेटियों में सुदृढ़ तालों में उसे रखते हैं। उस धन को लेने के लिये प्रहरियों की आँख बचाकर भवन को फोड़कर या लाँघकर वह घर में घुसता है। सोते हुए स्वामी के सन्मुख तालों को तोड़ कर धन लेकर निकल जाता है। उसे पग-पग पर प्राणों का भय है। स्वामी जाग पड़ा, प्रहरी की ही दृष्टि पड़ गई, राजकर्मचारी ही मिल गये, किन्तु वह इन सब विपत्तियों को सहकर प्राणों पर खेलकर धन को ले आता है।

इसी प्रकार सेवक पैसे के लिये कितने कष्ट झेलता है। सदा स्वामी के रूप को देखता रहता है। स्वामी के शरीर की सेवा करता है। प्रतिपल उसकी खरी खोटी बातें सुनता है। समय पर न सो सकता है न खा सकता है। महीने में उसे कुछ नियत धन मिलता है, उसी के लिये रात्रि दिन स्वामी के कार्यों में अव्यग्र हुआ लगा रहता है। स्वामी युद्ध में जाने की आज्ञा देता है, तो लड़ने मरने चला जाता है। प्राण बेचकर धन को प्राप्त करता है। इसी प्रकार

व्यापारी को देखिये, धन के लिये वह कैसे कैसे नीच कर्म करता है, कितना झूठ बोलता है, कैसा छल कपट करता है। न स्वयं खाता है, न दूसरों को देता है। उसका सिद्धान्त होता है, चमड़ी चाहें चली जाय, किन्तु दमड़ी न जाय। बड़े बड़े अगाध समुद्रों को पोतों द्वारा पार करता है बीच में बवन्डर आ जाय पोत डूब जाय। बड़े बड़े यन्त्रों में काम करता है, कि तनिक सी असावधानी से अंग प्रत्यंग कट जायँ। कृषि में कितना श्रम है, इन सब आपत्ति विपत्तियों को व्यापारी वणिक् धन के लिये सहर्ष सहता है।

प्रह्लादजी कहते हैं—"असुर बालको! जो धन अपने प्रिय से भी प्रिय प्राणों का पण लगाकर प्राप्त होता है, उस प्राणाधिक धन की तृष्णा को मनुष्य सुगमता से कैसे छोड़ सकता है। शरीर चाहें क्षीण हो जाय, दुखी हो जाय, किन्तु पैसा व्यय न करना पड़े। जितने भी धनी होंगे, प्रायः वे उतने ही कृपण होंगे। कृपणता करके ही तो धन एकत्रित होता है। दूसरों के मुख से ग्रास छीनकर, दूसरों के रक्त को शोषण करके ही तो धनी बनते हैं। उस धन को चाहें स्वेच्छा से छोड़कर वन में चले जायँ, भगवान् की आराधना में लग जायँ, यह असंभव है।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"तो क्या धन का त्याग करना ही सबसे कठिन है?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"नहीं, धन से भी कठिन त्याग है प्रियतमा पत्नी का त्याग कामनी का परित्याग। बालको प्रायः संसार में पति पत्नियों में नित्य अनबन बनी रहती है। बात बात में कलह लड़ाई झगड़ा हो जाता है। किसी भाग्यशाली की तो बात पृथक् है, नहीं तो घरवाली किसी न

किसी बात को लेकर सदा पति को कुछ न कुछ उलटी सीधी सुनाती ही रहती है। फिर भी मनुष्य को वैराग्य नहीं होता। सब सुनकर भी उसी का दास बना रहता है। उसे छोड़ने में उसका रोम रोम कांपता है। कभी कभी चित्त में आता भी है, इस नित्य की कहा सुनी से तो कहीं एकान्त में जाकर रहें तो अच्छा है। किन्तु जब फिर कभी उसका मधुरहास्य युक्त मुख देखता है, तो इसका सब क्रोध कपूर की भांति उड़ जाता है। रोष हास्यरूपी प्रवाह में वह जाता है। फिर उसी की हाँ में हाँ मिलाता रहता है यह बात उनकी है जिनकी पत्नियाँ बहुत अनुकूल नहीं रहतीं। फिर जिनकी पत्नियाँ जिनके अनुकूल हैं। पति को प्राणों से भी अधिक प्यार करती हैं। एकान्त में घुल घुलकर प्रेम भरी बातें करते करते अघाती नहीं। जो सब प्रकार से अपने पति को प्रसन्न करती हैं। अपने शरीर को सौंपकर सब प्रकार से स्वामी को सुखी बनाने के लिये प्रयत्नशीला बनी रहती हैं। ऐसी अनुकूला-मनोज्ञा प्रियतमा को छोड़कर परमात्मा की खोज में जाना अशक्य है, असंभव है। मनुष्य उसके स्नेह पाश में ऐसा बँध जाता है, कि घर छोड़ने का नाम सुनते ही उसकी छाती फटने लगती है। फिर साथ ही स्वजनों का स्नेह भी अपनी ओर खींचता है। सबसे बड़ा आकर्षण तो है बच्चों का। छोटी छोटी लटूरियों को लटकाये, घुँटनों से या स्खलित चाल से चलते हुए किलकारियाँ भरते हुए, तोतली वाणी में अम्मा-बप्पा, मम्मा पप्पा कहते हुए छोटे छोटे बालक जब आँगन में इधर उधर डोलते हैं। देखते ही दोनों हाथों को ऊपर उठाकर गोद में दौड़कर छाती से चिपट जाते हैं। इस सुख का जिसने अनुभव कर लिया है, वह यदि ब्रह्मा भी कहें, तो भी घर

को नहीं छोड़ सकते। फूल की तरह खिले हुए बच्चे के मुख चुम्बन में जितना आकर्षण है, उतना किसी में भी नहीं। बच्चा माता पिता दोनों का प्रतीक ही है, दोनों की सजीव क्रीड़ा करती हुई आत्मा है, दोनों के बाह्य प्राण हैं। प्राण भले चले जायँ, पुत्रवियोग न हो। गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ सुख है सुत के सुन्दर सुललित शरीर का संग। उसकी अमृत से भी मधुर वाणी का श्रवण।

प्रह्लादजी कहते हैं—"असुर बालको! जीव को ये ही सब आकर्षण संसार में बाँधे हुए हैं। ये ही सब इसे चौरासी के चक्कर में घुमा रहे हैं। यद्यपि प्रधान बन्धन ये ही हैं, तो भी इनके अन्तुगत और भी बहुत से प्रलोभन हैं, जिनसे मनुष्य छूटने में अपने को असमर्थ पाता है। उनका भी वर्णन मैं करूँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

कन्या रोवत दुखित जाइ पति गृह सुकुमारी।
भोली भाली बहिन भला कस छाड़ें प्यारी॥
आज्ञाकारी बन्धु पुत्र सुकुमार दुलारे।
छोड़े कैसे जाँइ मातु पितु वृद्ध दुखारे॥
दुग्ध फेन सम शुभ्र शभ, शैया सुखद सुहावनी।
स्वेच्छा तें कस तजें सब, वस्तु सरस मनभावनी॥

———

वैराग की बाधक वृत्तियाँ

४७२

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितृर्हृदय्या,
भ्रातृन्स्वसृर्वा पितरौ च दीनौ ।
गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च,
वृत्तींश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥❀
(श्री भा० ७ स्क० ६ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

कुलगत अपनी वृत्ति छोड़ि जावें कस वन महँ ।
हाथी, घोड़ा, गाय बसें सुठि सेवक मन महँ ॥
सबतें ममता जोरि मोह को जाल बनायौ ।
पूर्यो चारिहुँ ओर जानि निज अङ्ग फँसायौ ॥
होहि विरक्त न विपति सहि, सुमरे नहिँ सर्वेश हरि ।
पोसै निज परिवार कूँ, आयु गँवावे पाय करि ॥

रेशम का कीड़ा अपने मुख से ही सूत निकालता है और

❀ प्रह्लादजी असुर बालको से कह रहे हैं—"देखो, भाई ! गृहस्थी को पुत्रों की विवाहिता पुत्रियों की, भाइयों की, बहिनों की, वृद्धावस्था के कारण दीन हुए माता-पिता की, घरों की, सुन्दर मनोहर शैया बिछौना आदि प्रचुर परिच्छदों की, वंशपरम्परागत वृत्तियों की, घर के पशु तथा सेवकादिकों की, स्मृति बनी ही रहती हैं । उनको मनुष्य कैसे त्याग सकता है ?

उसे अपने चारों ओर पूरने लगता है। उसे मुख से सूत निकालने में आनन्द आता है, किन्तु इसके परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता। जितना ही अधिक वह रेशम का सूत निकाल कर अपने चारों ओर लपेटता है उतना अधिक फँसता जाता है। अन्त में ऐसा फँस जाता है, कि उसका निकलना असंभव हो जाता है।

पेट में जब तक बालक रहता है, तब तक सभी सम्बन्ध दूर खड़े रहते हैं। जहाँ बाहर आया कि सम्बन्ध उससे लिपट जाते हैं। बहिन भाई कहती है, माता-पिता पुत्र कहते हैं, मामा भानजा कहते हैं, चाचा भतीजा कहने लगते हैं। सारांश सभी सम्बन्ध जोड़ने लगते हैं, वह स्वेच्छा से इन्हें स्वीकार ही नहीं करता स्वयं भी नये नये सम्बन्ध बनाता है। न जाने कहाँ किसके यहाँ उत्पन्न लड़की को स्वेच्छा से ले आता है, उसे पत्नी मानने लगता है। उसके सम्बन्ध से सास, ससुर, साले, सरहज न जाने कितने सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। फिर पुत्र पौत्र आदि को उत्पन्न करके इन सब सम्बन्ध रूपी जाल में ऐसा फँस जाता है, कि उससे निकलना अत्यंत दुरूह हो जाता है। भगवान् ही निकालना चाहें, तो यह मोहजाल छिन्न भिन्न हो, नहीं तो अत्यन्त ही दृढ़ बन्धन है। निकलना अत्यन्त ही कठिन है।

प्रह्लादजी अपने सहपाठी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भैया! देखो, संसार से वैराग्य होना अत्यंत ही कठिन है। वैसे तो संसार की प्रत्येक वस्तु हमें किसी न किसी भाव से अपनी ओर खींच रही है, किन्तु सुन्दर वस्तुओं में आकर्षण अधिक होता है। निरंतर के संग से ईंट पत्थर मिट्टी की बनी भीतों में, चित्रों में, वृक्षों में आसक्ति हो जाती है। परिवार में जिनसे अपना सम्बन्ध है, जो साथ ही रहते हैं वे शरीर की

ही भाँति प्यारे हो जाते हैं। अपने घरमें लड़की पैदा होती है। पैदा होते ही कुछ लोग नाक भौं सिकोड़ते हैं—अजी, लड़का नहीं हुआ लड़की हो गई। ज्यों ज्यों लड़की बढ़ती जाती है। उसमें दिनों दिन ममता बढ़ती है। कोई कहता है—"अमुकस्थान पर चलो।" तो निराश होकर कहता है—"अजी बाल बच्चों को छोड़कर कैसे चलें। देखते नहीं हो बच्ची कितनी छोटी है, इसे किस पर छोडें। जब बच्ची बढ़कर विवाह के योग्य हो जाती है, तो रात्रि दिन उसीकी चिन्ता लगी रहती है, कैसे अच्छा घर वर मिले। स्थान स्थान पर भटकना पड़ता है, सब की ऊँचनीच सहनी पड़ती है। अपने से जो कुल में, धन में, विद्या में, वय में सब प्रकार छोटे हैं, तो भी जब सुनते हैं ये लड़की वाले हैं विवाह करने आये हैं, तो अकड़ जाते हैं, बढ़बढ़ाकर बातें सुनाते हैं। सबकी सुननी पड़ती है, बेटी के बाप ही ठहरे।

जैसे तैसे विवाह पक्का हुआ। इधर उधर से जुटाकर लड़की के पीले हाथ किये। जब लड़की ससुराल जाते समय रो रो कर माता पिता से लिपट जाती है, तब हृदय फटने लगने लगता है। जैसे तैसे विदा करते हैं। अब उसकी चिन्ता लगी ही रहती है। वहाँ उसे कोई कष्ट तो नहीं, सास ससुर प्रेम से रखते तो हैं। पति आदर करता है या/नहीं। अभी उसके बाल बच्चा नहीं हुआ। बार बार बुलाते हैं। कपड़े लत्ते देते हैं। सब प्रकार से चिन्ता रखनी पड़ती है, सम्बन्ध और दृढ़ होता जाता है। लड़के लड़की हुए तो छोछक भात आदि देने पड़ते हैं। ऐसी लड़की का मोह कैसे परित्याग किया जा सकता है?'

पुत्र हैं, उन्हें कितने प्यार दुलार से पालते पोसते हैं, एक एक दिन गिनते हैं, वर्ष वर्ष में उनकी जन्म तिथि मनाते हैं,

धन व्यय करके पढ़ाते हैं। युवा होने पर व्याह करते हैं। अब तक पुत्र की चिन्ता थी अब उसके साथ पुत्र वधू की भी चिन्ता हो जाती है। कोई कहता है—"तीरथ व्रत करलो। जगन्नाथ जी के दर्शन कर आओ।"

व्यग्रता के स्वर में उत्तर देता है—"अजी, कैसे चलें, घर से निकलना ही नहीं होता। कच्ची गृहस्थी है, लड़के का यद्यपि विवाह हो गया है, किन्तु अभी गृहस्थी सम्हाल नहीं सकता, बात बात में मुझसे पूछता है। कुछ बड़ा हो जाय, बाल बच्चे हो जायँ, तो फिर हम निश्चिन्त हो जायँ।" बाल बच्चे भी हो जाते हैं, तब और भी अधिक उनमें लिप्त हो जाता है। दिन भर उन्हें खिलाता है, यह धर, वह उठा, यह ला, वह ला, इसी सटर पटर में लगा रहता है। कंठगत प्राण आते हैं, मरने की घड़ी तक उनकी ही चिन्ता में फँसा रहता है, ऐसे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रों को छोड़कर भगवत् चिन्तन कैसे हो सकता है?

भाई है बहिन हैं, कोई बड़े हैं कोई छोटे हैं। बड़ों की रेख देख रखनी पड़ती है, कष्ट न हो। लोग यह न कहें—"भाइयों की रेख देख नहीं करता।" छोटे हैं उनका पुत्र की भाँति पालन पोषण करता है। अनुकूल हैं तो उनके भरण पोषण की चिन्ता करता है। प्रतिकूल हैं तो उनसे लड़ने झगड़ने राज सभा में अभियोग चलाने में ही लगा रहता है। अनुकूल प्रतिकूल कैसे भी हों चिन्ता तो उनकी रखनी पड़ती है। बहिन गरीब घर में है, तो उसकी उसके बाल बच्चों की चिन्ता रहती है। धनी घर में है तो भी उससे अधिकाधिक सम्बन्ध बनाये रहने में अपना लाभ है, कभी उसे बुलाता है, कभी उसी के घर जाता है। ऐसे भाई बहिनों के मोह को त्यागना सहज काम नहीं है।

माता पिता वृद्ध हो गये हैं। बेटाओं की जो बहुएँ आई हैं

वे नये विचार की हैं। उन्हें ये बूढ़े अच्छे नहीं लगते। इनकी खो खो से उनके कानों में खुजली होती है। बड़ी दीन वाणी में माता-पिता कहते हैं "बेटा! तनिक हमारा भी ध्यान रखा करो। ये बहुएँ तो अभी बच्ची ही हैं। भगवान् इनका भला करे, इनकी गोद भरे, दूध पूत से फलें फूलें। अब अधिक दिन नहीं जीवेंगे। जब तक हैं, पानी पत्ता का ध्यान रखाकर" अपने जनक जननी के ऐसे वचनों से हृदय भर आता है। यथासाध्य उनकी देख रेख करनी पड़ती है। एक दिन भी बाहर चले जायँ तो कोई उन्हें पानी भी नहीं देता। नौकर चाकर मनमानी करते हैं। जिन्होंने हमें पाल पोस कर इतना बड़ा किया है, पढ़ा लिखाकर योग्य बनाया है, उन्हें वृद्धावस्था में असहाय कैसे छोड़ सकते हैं। अब भगवत् भजन करें कि इन्हें देखें। इस प्रकार माता पिता के मोह में ही समय जाता है, परमार्थ चिन्ता का अवसर ही नहीं।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भैया, कहाँ तक तुम्हें गिनावें। एक एक वस्तु में मन फँसा रहता है। घर की एक एक वस्तु में चित्त आसक्त रहता है। मेरा भवन है सुन्दर सुन्दर शैयायें हैं, गद्दा, तकिये गलीचे हैं, नाना प्रकार के वाहन हैं, बाग बगीचे हैं, वापी, कूप, तड़ाग, आराम हैं। व्यपार है, बड़ी बड़ी कोठिया हैं। लेन देन है, ग्राम हैं, पद है, प्रतिष्ठा है। आज्ञाकारी भृत्य सेवक हैं, संगी साथी, पुरजन परिजन, प्रजा परिवार वाले हैं। सारांश सभी में मन फँसा रहता है। इन सबसे चित्त को हटाकर एक मात्र भगवान् की ही ओर लगाना बड़ा कठिन प्रतीत होता है। उपस्थेन्द्रिय का सुख ऐसा है, कि इससे कभी तृप्ति नहीं होती। कितनी अवस्था हो जाय, मन भरता ही नहीं। इन्द्रियाँ भले ही शिथिल हो जायँ, किन्तु इच्छा

शिथिल नहीं होती।

फिर घर में नित्य नूतन भोजन बनते हैं। स्त्री के हाथ के साग परामठों में जैसा स्वाद है, वैसा बाजार के भोजन में कहाँ। पुत्रवधू ऐसे सुन्दर २ साग बनाती है, कि पेट तो भर जाता है, किन्तु मन नहीं भरता। नित्य ही पर्व उत्सव लगे रहते हैं। भाँति भाँति की मिठाइयाँ बनती हैं, सम्बन्धियों के यहाँ से आती हैं। घर न छोड़ने का प्रधान हेतु तो यही है। इतनी सुविधायें जंगल में कहाँ मिल सकती हैं। भीख के बासे कूसे टुकड़ों पर, कड़वे कसैले फलों पर निर्वाह कैसे हो सकता है। यहीं बैठकर भगवान् के दो नाम ले लेंगे। यह कह तो देते हैं, किन्तु लेते नहीं। उपस्थ और जिह्वा के सुखों को ही श्रेष्ठ मानने वाले महामोह ग्रस्त व्यक्ति संसार से विरक्त कैसे हो सकते हैं? कठिन है खड्ग की धार पर चलने से भी दुरूह है।

प्रातः पूर्व में नित्य सूर्य उदय होते हैं, सायंकाल को पश्चिम में अस्त हो जाते हैं। आयु के वर्षों में से एक दिन घटाकर चम्पत हो जाते हैं। सोमवार बीत गया मङ्गल आ गया। इसी भाँति बुद्ध, वृहस्पति, शुक्र, शनि और रवि बीत गये एक सप्ताह हो गया। देखते देखते दो सप्ताह चले गये, पक्ष पूरा हो गया। कृष्ण शुक्ल दो पक्ष बीते कि महीना समाप्त। १२ महीने बीते एक वर्ष हो गया। इस प्रकार वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते जाते हैं, हम माया मोह में फँसकर ऐसे अंधे हो जाते हैं, कि आखों के सामने से जाने वाला काल दिखाई नहीं देता। हम सोचते रहते हैं हमें सदा ही जीना है। भवन भी बनावेंगे तो ऐसा दृढ़ कि कभी न टूटे फूटे। मानों हमें सदा इसीमें रहना है। हम समय की ओर से प्रमत्त बने रहते हैं, किन्तु वह अप्रमत्त हुआ आयु के पल पल की गणना

करता रहता है। कुटुम्ब के पालन पोषण में हम ऐसे प्रमत्त हो जाते हैं, कि अपने हिताहित को सर्वथा भूल जाते हैं। वास्तविक पुरुषार्थ क्या है इसका ध्यान ही नहीं रहता।

जब कुटुम्ब बढ़ जाता है, तो बात बात पर द्रव्य की आवश्यकता होती है। धर्म से धन न मिलने पर पाप बुद्धि होती है, चोरी करने की वृत्ति जागृत होती है। जब सूर्य जैसे प्रतापी देवता अपने भाई के लिये पानी की चोरी करते हैं। प्राणियों के देखते देखते जीवों के शरीरों से, कूआ, नदियों और समुद्र से जल चुरा चुराकर चन्द्र को देते हैं इसीलिये वे वारितस्कर कहलाते हैं, तो मनुष्य अपने कुटुम्ब के लिये विवश होकर अन्याय चोरी करता है तो उसकी विवशता है। स्वयं ही उसने जाल बुना है, स्वयं ही उसमें फस गया। अब निकलने को छटपटाता है—पाप करके निकलना चहता है, झंझटों से मुक्त होना चाहता है किन्तु और भी अधिकाधिक बँधता है। कुटुम्ब के भार से दबे रहने के कारण चित्त निरन्तर धन में आसक्त रहता है आवश्यकतानुसार धन मिलता नहीं क्यों कि तृष्णा बढ़ी है। यह भी जानता है कि अन्याय से चोरी से धन उपार्जन करेंगे, पकड़े जायेंगे, कारावास में जायगे, मरकर नरकों की यातनायें सहनी पड़ेंगी, किन्तु यह सब जानते हुए भी दूसरों का धन चुराता है। परदाराभिगमन करता है, क्योंकि इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर सका है, स्वयं इन्द्रियों का दास बना हुआ है। इसीलिये सदा अशान्त काम बना रहता है।

प्रह्लादजी कह रहे हैं—"सो भैया! दैत्य कुमारो। तुम सोच लो, जिस गृहस्थी में इतने बन्धन्न हैं, उन सब बन्धनों को तोड़ना हँसी खेल नहीं। मूर्खों की बात तो जाने दो,

जो विद्वान् हैं जिन्होंने विधिवत् अध्ययन किया है, वे लोग भी अज्ञानियों के समान तमोग्रस्त हो जाते हैं। वे भी अपने पराये का भेद भाव करके कुटुम्ब पोषण के लिये तथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिये पाप करते देखे गये हैं। ऐसे लोगों को परमार्थ की प्राप्ति कैसे हो सकती है ये सब वृत्तियाँ तो वैराग्य की बाधक हैं। मैं विषयों की दशा और भी बताता हूँ उसे भी तुम सावधान होकर सुनो।

छप्पय

भोगै ज्यों ज्यों भोग बढ़ै त्यों त्यों तृष्णा नित।
पर धन अरु परनारि माँहि नित फँस्यो रहे चित॥
करै पाप नित नये झूठ तें द्रव्य बटोरै।
धनहित तनकूँ बेचि हाथ नीचनि के जारै॥
पोथी पत्रा पढ़ि भये, पंडित हू विख्यात हैं।
मोह ग्रस्त है मोक्ष तें, वञ्चित ते रहि जात हैं॥

भगवद्भक्ति ही जीव का प्रधान कर्तव्य है

४७३

ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्ग विषयात्मकेषु ।
उपेत नारायणमादिदेवम्,
स मुक्त सङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० ५ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

विषयिनि कूँ तजि संग शरन श्रीहरि के जाओ ।
जग चक्कर तें छूटि मोक्ष पदवी कूँ पाओ ॥
हरि व्यापक सरवत्र अनत ढूँढन मति जानों ।
सब भूतनि महँ बसैं तिन्हें हियई महँ मानों ॥
माया को परदा परयो, ज्ञान रूप दीखैं नहीं ।
दरशन होवें तुरत यदि, तम आवरन हटै कहीं ॥

संसार में आज तक जितने लोगों ने विषयों का सेवन

❀ प्रह्लादजी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—"हे दैत्यकुमारों ! देखो तुम विषयों में आसक्त हुए दैत्यों के सङ्ग को दूर से ही त्यागकर दो । आदि देव जो श्रीमन्नारायण हैं उनकी शरण में जाओ । वे ही श्रीहरि सङ्ग रहित साधुओं के इच्छित मुक्तिपद को देने वाले हैं ।

किया है, उनमें से किसी ने भी यह नहीं कहा कि हम सर्वथा सन्तुष्ट हो गये। जितनी ही भोग सामग्रियाँ बढ़ती जाती हैं, उससे दूनी तृष्णा बढ़ती जाती है। इन्द्रियाँ चाहे उप-भोग करने योग्य न रह जायँ, किन्तु मन में लालसा बनी ही रहती है। मन सदा उनमें फँसा ही रहता है। कितना भी बड़े से बड़ा धनी ऐश्वर्य शाली प्रभाव वाला क्यों न हो, विषयों के लिये भूखा प्यासा वह भी बना रहता है। विश्वविजयी हिरण्यकशिपु, लोक को रुलाने वाला रावण तथा और भी बल-शाली बहुत से तैत्य दानव इन सबको किस वस्तु की कमी थी, सभी सबको जीतने वाले शूरवीर थे, संसार के सभी पदार्थ उन्हें प्राप्त थे देवता, यक्ष गन्धर्व सभी को उन्होंने जीता था। किन्तु एक मन को न जीतने के कारण ये सदा विषयों के दास बने रहे। इसके विपरीत जिसके पास कुछ भी नहीं, सर्वथा निष्किंचन है किन्तु हृदय में भगवद्भक्ति है, तो उसके पास सब कुछ है, उसने सब कुछ पा लिया, जीवन को सफल बना लिया, मनुष्य देह पाने का प्रयोजन सिद्ध कर लिया। भगवान् की भक्ति करके वे स्वयं तर गये और अपने चरित्र रूप आदर्श को पीछे भी छोड़ गये जिसे देख देखकर जीवों को स्वस्वरूप का बोध हो जाय। भगवद्भक्ति के ही कारण परम भागवत प्रह्लाद जो दैत्यवंश में अवतरित होने पर भी भगवान् के समान ही पूजनीय वन्दनीय तथा पुण्यश्लोक बन गये। यह सब भगवती भक्ति महारानी का ही प्रभाव है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब महाभागवत प्रह्लादजी असुर बालकों को उपदेश दे रहे थे, तब वे सबके सब टकटकी लगाये बड़े ध्यान से उनकी बातें सुन रहे थे। जब उन्होंने गृहस्थाश्रम में फँसे जीव की दुर्दशा

बताई तब उनमें से एक ने पूछा—"कुमार! गृहासक्ति की इतनी निन्दा क्यों करते हो। यदि परिवार का पालन न करें तो फिर और करें ही क्या?"

प्रह्लादजी बोले—"मैं परिवार के पालन के लिये मना थोड़े ही करता हूँ। मैं तो कहता हूँ उन सब में आसक्ति मत बढ़ाओ, उन्हें भी भगवत् स्वरूप ही समझो। कर्तव्य बुद्धि से भगवत् सेवा समझकर जो भी काम करना हो करो। तुम सोचो तो सही पहिले तो माता पिता में ही कितनी आसक्ति होती है। बच्चा माता पिता को छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहता है। विलग होते ही रोता है। कुछ बड़ा होने पर वह आसक्ति पत्नी में हो जाती है। चित्त चाहता है सदा इसके पास ही बैठे रहें। डिबिया में बंद करके गले में बाँधे रहें, नैनों में छिपाये रखें। फिर जब बच्चे कच्चे हो जाते हैं, तो उनमें मोह ममता बढ़ जाती है। इस प्रकार यह मनुष्य कामिनियों का खिलौना बन जाता है, उनके विहार का क्रीड़ामृग हो जाता है, उनके संकेत पर नाचता है। संतति रूपी बेड़ी इसके पैरों में पड़ जाती हैं सब विषयों में दीन बन जाता है। इस प्रकार परिवार में आसक्त हुए पुरुष अपनी आत्मा का कभी भी कहीं से भी किसी प्रकार भी उद्धार कर सकते हैं? मैं कहता हूँ, नहीं कर सकते, नहीं कर सकते।"

दैत्यकुमारों ने पूछा—"तब फिर करना क्या चाहिए।"

प्रह्लादजी ने कहा—"एकमात्र जो प्रधान कर्तव्य है, वही करना चाहिए। आदि देव भगवान् वासुदेव की शरण में जाना चाहिये। वे ही जीव के सहज सुहृद हैं, वे ही परागति हैं, वे ही साधु पुरुषों के वाञ्छित मोक्ष प्रद है, उन्हीं की शरण जाने से समस्त दुःखदुरित ताप संताप छूट सकते हैं। अतः विषयी

पुरुषों का संग सर्वदा के लिये त्यागकर उन सर्वात्मा श्री हरि की सेवा करो उन्हें ही अपना सर्वस्व समझो।

दैत्य बालकों ने कहा—"अरे, भैया! भगवान् को प्रसन्न करना तो बहुत कठिन कार्य है। कोई दीखता हो तो उसकी सेवा की भी जा सकती है।

यह सुनकर हँसते हुए प्रह्लादजी बोले—"अरे, भैयाओ! भगवान् को प्रसन्न करने में भला क्या प्रयास? जो भिन्न स्वभाव का अन्य होता है, उसे प्रसन्न करने में कठिनता होती है। जो अपनी आत्मा ही हैं, प्रेम स्वरूप ही हैं, प्राणी मात्र के जो सहज सुहृद हैं, वे आत्मरूप अच्युत तो अपने आप ही अनुकूल हैं। केवल अनुभूति की आवश्यकता है। उन्हें खोजने कहीं अन्यत्र न जाना पड़ेगा वे घट घट में सर्वत्र के समान रूप से व्याप्त हैं।

इस पर असुर बालकों ने कहा—पदार्थ तो भैया बहुत हैं भगवान् एक हैं, इन सबमें वे कैसे रहते होंगे। देखो, एक तो गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, फिर उसी प्रकृति में जब गुण वैषम्य हो जाता है, तो उसी से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। फिर अहंतत्व। उसके भी सात्विक, राजस् तथा तामस् भेद से तीन रूप हो जाते हैं, इन्हीं से पंचमहाभूत, दस इन्द्रियों तथा मन आदि की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन्हीं पञ्चभूतों से देह, घट, पट, वृक्ष, लता आदि समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन सब में भगवान् कैसे रहते हैं।

इस पर हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"बहुत होनेसे क्या हुआ ब्रह्माजी से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी छोटे बड़े स्थावर जंगम पदार्थों में वे ही श्रीहरि अनुस्यूत हो रहे हैं। कंकण, हार,

अँगूठी, कड़े छड़े आदि अनेक छोटे वड़े सुन्दर असुन्दर पदार्थ हैं। किन्तु उन सबमें सुवर्ण समान रूप से व्याप्त है। नाना नाम रहने पर भी जिस प्रकार उन आभूषणों से सुवर्ण किसी भी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार संसार के किसी भी पदार्थ से वे श्री हरि पृथक् नहीं किये जा सकते। जैसे माला का अस्तित्व सूत्र के विना नहीं रह सकता, वैसे ही प्रभु के बिना यह जगत् कुछ भी नहीं है।

दैत्य बालकों ने कहा—"उनके रूप का वर्णन कीजिये उनकी यथार्थ महिमा वताइये।"

प्रह्लादजी ने कहा—"उनका कोई एक रूप हो तो बतावें भी। सभी उनके रूप हैं फिर भी वे अरूप हैं। जो कहा जाता है, सब उन्हीं के सम्बन्ध से कहा जाता है, फिर भी उनका यथार्थ निर्वचन नहीं हो सकता, वे अनिर्वचनीय हैं। वे अन्तर्यामी हैं, उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः वे अविकल्पित कहाते हैं। वे द्रष्टा रूप से व्यापक और अनात्मा दृश्य रूप से व्याप्य कहलाते हैं। वास्तव में उनमें व्याप्य व्यापक भाव केवल कल्पित है वे सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप और आत्म स्वरूप हैं। उन महामहिम सर्वेश्वर का ऐश्वर्य गुणमयी सृष्टि करने वाली माया से आच्छादित है। जहाँ माया का आवरण हटा तहाँ उनका दर्शन हो जाता है वे घूँघट में अपने चन्द्रमुख को छिपाये रहते हैं। घूँघट हट गया फिर उनका मनोहर मोहक मुखड़ा दीख जाता है। जीव कृतकृत्य हो जाता है, अपने आपे को भूलकर उन्हीं का सा हो जाता है। क्या हो जाता है सो तो होने वाला ही जाने गूंगे का गुड़ है।"

असुर बालकों ने कहा—"अरे, भैया! तब तो भगवान्

बड़े सुन्दर हैं उनका दर्शन कैसे हो। किस साधन से यह माया का आवरण हट सकता है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"भगवान् जिस पर प्रसन्न हो जायँ। उसी का आवरण हटा देते हैं। तुम असुर भाव को त्याग दो। उनकी प्रसन्नता का कारण है सरलता। चित्त को सरल बनालो प्राणी मात्र से प्रेम का भाव रखो जीव मात्र पर दया करो। दया और प्रेम से ही प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं।"

असुर बालकों ने पूछा—"प्रभु प्रसन्न होने पर क्या होता है ?

यह सुनकर प्रह्लादजी हँस पड़े और बोले—"अरे, प्रसन्न होने पर होता क्या है, जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। प्रभु के प्रसन्न होने पर फिर तो कुछ कर्तव्य ही शेष नहीं रहता, कोई प्राप्य वस्तु ही नहीं रह जाती। ये जितने धर्म, अर्थ और काम्य पदार्थ हैं ये सब तो प्रारब्धानुसार स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। इनके लिये प्रयत्न तो व्यर्थ है। इनसे हमें क्या प्रयोजन है।

इन असुर बालकों ने कहा—"धर्म अर्थ, काम और मोक्ष चार ही तो पुरुषार्थ हैं। इनमें मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा है। यदि धर्म, अर्थ और काम नहीं चाहते तो मोक्ष चाहते होंगे उसी के लिये प्रयत्न करते होंगे ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भाई ! प्रयत्न अप्राप्य वस्तु के लिये किया जाता है। हम लोग नित्य भगवान् का चरणामृत पीते हैं। चरणामृत लेते समय मंत्र पढ़ते हैं—

अकाल मृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

अर्थात् यह भगवान् का चरणामृत अकाल मृत्यु का हरने

वाला सभी प्रकार की व्याधियों का नाश करने वाला है, इसको पीकर फिर संसार में जन्म नहीं होता।" जब मोक्ष, चरणामृत पानसे भक्तों को स्वतः प्राप्त है, तो फिर मोक्ष के लिये प्रयत्न क्यों करें। रही पाप विनाशन की बात सो भगवान् के नाम और गुणों का गान करने से सभी पाप ताप नष्ट हो जाते हैं। फिर हम मोक्ष की इच्छा क्यों करने लगे।

असुर वालकों ने कहा—"तब" चार ही तो पुरुषार्थ हैं, चारों का ही तुम निषेध कह रहे हो तो फिर चाहते क्या हो? कर्म किस उद्देश्यसे किये जायँ। विना कर्म किये तो प्राणी रह नहीं सकता।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भाई, कर्म तो करने वे ही होंगे केवल उनके उद्देश्य में अन्तर होता है। साधुसंत घर द्वार कुटुम्ब परिवार, खेत बगीचा, स्त्री पुत्र सबको छोड़कर आते हैं। आकर फिर तीर्थों में, एकान्त स्थानों में, गंगा यमुना आदि पुण्य सरिताओं के तट पर मन्दिर बनाते हैं, वाग बगीचा लगाते हैं, कूआ खुदाते हैं, १० आदमियों को एकत्र करके कथा कीर्तन कराते हैं। काम तो वे ही सब हुए। वे ही ईंट पत्थर पेड़ पौधे आदि हैं, केवल उद्देश्य में अन्तर पड़ जाता है। घर में बाग लगाते थे, फूल आये निवासस्थान की चौकी पर मनोहर गुच्छा बनाकर शोभा के लिये रख दिया। भोजन बनाया गरमागरम बिना भोग लगाये उड़ाते गये। वहाँ जो भी काम करते थे, शरीर सुख के लिये अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने के लिये। अहंकार को बढ़ाने के लिये। यहाँ जो भी करते हैं, भगवान् के लिये, भगवान् के नाम पर। भगवान् की वाटिका, भगवान् का कुआ, भगवान्

का मन्दिर, नित्य मन्दिर को स्वयं झाड़ते बुहारते हैं पुष्प लाते हैं पहिले भगवान् को चढ़ाते हैं, फल आते हैं अमनिया करके भगवान् को भोग लगाते हैं, तुलसी पत्र डालते हैं, तब प्रसाद पाते हैं, भोजन बनता है, पहिले भगवान् का भोग लगता है, तब विष्णु नैवेद्य को श्रद्धा सहित पाते हैं। भगवान् के चरणों में चढ़ी तुलसी माला आदि को सिर पर चढ़ाते हैं, सूँघते हैं। इत्यादि इत्यादि जो भी काम करते हैं भगवान के उद्देश्य से करते हैं। काम सब वे ही हैं केवल भावना बदल गई है। जो अपने लिये ही भोजन बनाकर खाते हैं, वे पाप खाते हैं। जो विष्णु के निमित्त बनाते हैं, भोग लगाकर प्रसाद पाते हैं वे नित्य अमृत का भोजन करते हैं। ऐसे अनन्य भगवद् भक्त मोक्ष की इच्छा क्यों करने लगे ?

असुर बालकों ने पूछा—"तब फिर कर्म करने का उद्देश्य ही क्या रहा ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"कर्म करने का उद्देश्य है सर्वात्म भाव से अपने सर्वस्व को सर्वात्मा श्री हरि के पाद–पद्मों में समर्पित कर देना। जो कर्म अपने परम सुहृद श्रीहरि भगवान् पुरुषोत्तम के आत्मार्पण करने में सहायक न हों, तो मैं उन कर्मों को व्यर्थ समझता हूँ। शास्त्रों में आन्वीक्षिकी विद्या, कर्मकाण्ड, न्याय, दण्डनीति, कृषि वाणिज्य आदि नाना प्रकार के आजीविका के साधनों का वर्णन है। धर्म अर्थ और काम जो त्रिवर्ग बताये हैं उनका भी स्थान-स्थान, पर विशद् वर्णन किया गया है। ये सब कर्म तभी उचित हैं, जब इनके द्वारा भगवत् सेवा हो सके प्रभु की भक्ति में

ये सहायक हों। नहीं तो केवल श्रम मात्र ही है, उलटे ये कर्म संसार बन्धन को और भी दृढ़तर करने वाले हैं।

यह सुनकर आश्चर्य के साथ असुर बालकों ने पूछा—"भैया! है तो तू छोटा सा ही। इतनी ज्ञान की गूढ़ बातें तैंने कहाँ से सीख लीं? ये तैंने अपने मन से गढ़ ली हैं या ये यह विमल ज्ञान सम्प्रदाय पुरस्सर तुझे कहीं से प्राप्त हुआ है?"

इस पर प्रह्लादजी बोले—"ना भैया! मैंने अपने मन से इन बातों को नहीं बनाया है। यह तो परम्परागत प्राप्त ज्ञान है। इस ज्ञान के आदि आचार्य स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। भगवान् ने अपने अनन्य भक्त नारद जी को यह ज्ञान सिखाया था। नारदजी का तो व्रत ही है परोपकारी संसार में फँसे प्राणियों को भय से छुड़ाना यही उनका प्रधान कार्य है, अतः जो भी अधिकारी चाहें, वही नारदजी का आह्वान करके इस विशुद्ध विमल ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। मेरे ऊपर भी भगवान् नारदजी ने कृपा की मुझे भी इस ज्ञान का उन्होंने बहुत वर्षों तक उपदेश दिया।

इस पर प्रह्लादजी की हँसी उड़ाते हुए असुर बालकों ने कहा—"अब तो भैया! तू गप्प मारने लगा। अभी ५।६ वर्ष का तो तू स्वयं ही है। हमारे सामने तू पैदा हुआ। साथ ही हम बढ़े खेले कूदे। हमने तो कभी नारदजी को यहाँ आते देखा नहीं

कभी आये भी होंगे। उन्होंने तुझे उपदेश कहाँ दिया ? तू रहता है, भीतर अन्तःपुर में। नारदजी भीतर स्त्रियों में जाते नहीं। फिर हम तेरी इस बात पर कैसे विश्वास करें ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, तुम मेरी बात पर विश्वास नहीं करते। मैं सत्य कहता हूँ। मेरे गुरु तो नारद जी ही हैं। यहाँ उन्होंने मुझे उपदेश नहीं दिया, दूसरे ही स्थान पर दिया था।"

असुर बालकों ने कहा—"नहीं, भैया ! अविश्वास की तो कोई बात नहीं किन्तु हमारे तुम्हारे गुरु तो ये दोनों आचार्य पुत्र ही हैं। अभी तक तो हम इन्हें ही गुरु समझते थे, किन्तु ये विशुद्ध भागवत् धर्म जानते नहीं और तैंने जो बातें कही हैं, वे विज्ञान युक्त और भक्ति शास्त्र के सार भूत हैं। देवदर्शन् भगवान् नारद के न हमने स्वयं दर्शन किये और न तुझे ही उनसे शिक्षा ग्रहण करते देखा। इसलिये हमें शंका हो गई। इसका यदि तुम उचित समाधान कर सको तो हमें पूरा विश्वास हो जाय। कब और कैसे तुम्हारी नारदजी से भेंट हुई और उन्होंने दैत्य पुत्र समझ कर भी तुम्हें इस रहस्य मय भागवत् धर्म का उपदेश कैसे दिया। इन सब बातों का उचित उत्तर दो।"

श्रीनारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! असुर बालकों के पूछने पर, जिस प्रकार मुझसे प्रह्लादजी को यह ज्ञान

प्राप्त हुआ था, उसे वे परम भागवत असुरकुलवंशावतंस भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी अपने सभी साथियों को सुनाने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

धर्म अर्थ अरु काम मोक्ष हरि भक्त न चाहें।
प्रभु पादोदक पान करहिं नित हरगुन गायें॥
तेई करम यथार्थ कृष्ण की भक्ति दृढ़ावें।
अन्य जगत के कर्म अधिक भव बन्ध बढ़ावें॥
शुद्ध भागवत धर्म जिह, श्री नारद मुख तें सुन्यो।
दैत्य पुत्र सुनि हँसि परे, हँसत उदर सबको फुल्यो॥

———

नारदजी के आश्रम पर प्रह्लाद जननी

(४७४)

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम् ।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० २ श्लो०)

छप्पय

हँसि सब बोले-मित्र ! व्यर्थ क्यौं बादर फारे ।
नारद कब कहँ मिले गप्प हमतें मति मारे ॥
सुनि बोले प्रह्लाद गये पितु तप हित जबई ।
जानि सुअवसर देव चढ़े दैत्यनि पै तबई ॥
हारे असुर रह्यो तबहिँ, मैं माता के उदर महँ ।
मम जननी कूँ अमर पति, पकरि लै चल्यो स्वरग महँ ॥

भगवान् के सभी विधानों में मङ्गल निहित है। हमारे ऊपर जो आपत्ति-विपत्ति आती हैं, देखने में तो तत्क्षण वे बुरी लगती हैं, किन्तु अन्त में उनका परिणाम भला ही होता है। सत्य शिव और सुन्दर स्वरूप श्रीहरि की क्रीड़ायें असत्य अशिव और असुन्दर कैसे हो सकती हैं ? यह जिसे दृढ़ निश्चय

---

* प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो, जब हमारे पिता जी मन्दराचल पर्वत पर तपस्या करने के निमित्त 'चले गये' तब देवताओं ने दानवों से युद्ध करने के लिए महान् उद्योग किया ।

हो जाय उसकी बुद्धि विपत्ति में विचलित नहीं हो सकती। जितने भी अवतार पुण्यश्लोक महापुरुष हुए हैं सभी के जीवन में बड़ी से बड़ी विपत्तियाँ आई हैं और उन्हें सहने के कारण वे आज जगद्‌वन्द्य बने हैं। सुवर्ण को ही बार बार तपाया जाता है, उसे जितना ही तपाते हैं, वह उतना ही उज्वल निकलता जाता है। अतः विपत्तियों को प्रभु की देन समझकर सहना यही सुखकर मार्ग है, इसी में कल्याण है।

धर्मराज युधिष्ठिर से श्री नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! जब असुर बालकों ने प्रह्लादजी की बात पर अविश्वास सा प्रकट किया और इस बात की जिज्ञासा प्रकट की कि मेरे साथ नारदजी का समागम कहाँ और कैसे हुआ, तो वे उन्हें सब कथा सुनाने लगे प्रह्लादजी दैत्य बालकों से बोले—"देखो, भैया ! यह बात तो तुम लोगों ने सुनी ही होगी, कि मेरे पिता ने मंद-राचल पर्वत पर जाकर घोर तपस्या करके ब्रह्माजी से बड़े बड़े दुर्लभ वर प्राप्त किये हैं।"

असुर बालकों ने कहा—"हाँ, यह बात तो जगत् प्रसिद्ध है। हम तो इसे बाल्यकाल से सुनते आ रहे हैं। सुना तेरा तो तब जन्म नहीं हुआ था।"

प्रह्लादजी ने कहा—"यही तो मैं बता रहा हूँ। मेरा जन्म तो तब नहीं हुआ था, किन्तु तब मैं माता के गर्भ में था। मेरे पिता जब तपस्या करने चले गये और घोर तपस्या करके दीमकों की मिट्टी के ढेर में दब गये, तब देवताओं ने सोचा— "यह हमारा शत्रु अपने आप ही मर गया। अब तो असुर अनाथ हो गये। इन्हें पराजित करने का यही उत्तम अवसर है।" यह सोचकर देवता बहुत बड़ी तैयारी करके सदल

असुरों पर चढ़ आये। दैत्य सभी असावधान थे, देवता सेना अस्त्र शस्त्र आदि से सुसज्जित थे। देवताओं ने पहिले चढ़ाई की थी। कहावत है पहिले मारे सो जीते। सहसा देवताओं की चढ़ाई को देखकर दैत्य किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये, उनका कोई स्वामी नहीं था, वे घर द्वार, स्त्री, परिवार, पशु, भृत्य तथा भोग सामिग्रियों को छोड़कर भाग खड़े हुए। देवताओं की विजय हो गयी। वे असुरों के धन रत्नों को लूटने लगे। देवराज इन्द्र मेरे माता को पकड़ कर स्वर्ग को ले जाने लगे। उन्होंने उसे बल पूर्वक अपने रथ में बिठा लिया। रथ आकाश मार्ग से जा रहा था, मेरी माँ दुःख और शोक के कारण कुररी पक्षी की भाँति रुदन कर रही थी। संयोग की बात कि उसी समय राम कृष्ण गुण गाते, वीणा बजाते देवर्षि नारद उधर से आ निकले।

त्रैलोक्य वन्दित उन देवर्षि को देखकर देवराज इन्द्र ने उन्हें श्रद्धा सहित प्रणाम किया। मुनिराज ने मेरी माता को इस प्रकार रुदन करते देखा, तब दया वश वे देवेन्द्र से बोले—"देवराज! यह किसकी पत्नी है, इस प्रकार विलाप क्यों कर रही है? तुम इसे इस प्रकार क्यों लिये जा रहे हो?'

मुनि के वचन सुनिके अमराधिप इन्द्र ने कहा—"भगवन्! यह मेरे शत्रु हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधू है, मैंने असुरों को जीत लिया है, अतः मैं इसे स्वर्ग ले जा रहा हूँ।

यह सुनकर देवराज को धिकार देते हुए देवर्षि बोले—"छिः छिः तुम देवताओं के राजा होकर ऐसा निन्दित कार्य कर रहे हो? अरे, परपत्नी को तो स्पर्श करना ही महापाप है। तुम्हारी शत्रुता हिरण्यकशिपु से है, इस अबला ने तो

तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा है। यह तो सर्वथा निरपराधिनी है। यदि तुम परनारी सती साध्वी पतिव्रता की ओर कुदृष्टि करोगे, तो तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े हो जायँगे। गौतम की पत्नी के साथ जो तुमने अन्याय किया, उसका फल तो तुम अभी भोग ही रहे हो।"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ सुरेन्द्र बोला—"नहीं भगवन्! मेरे इसे ले जाने में कोई दुष्ट विचार नहीं हैं। मैं इस सती पतिव्रता का न स्पर्श करूँगा, न इसे कोई कष्ट दूँगा। इसके उदर में हिरण्यकशिपु का अमोघ वीर्य है। हम उसी दुष्ट से सदा भयभीत रहते हैं। चूहे का लड़का चूहा ही होता है, वह भी पैदा होते ही विना सिखाये बिल ही खोदता है। पैदा होते ही यह भी हमसे शत्रुता करेगा, अतः जब तक यह बालक पैदा नहीं होता, तब तक इसे सत्कार पूर्वक रखूँगा। जब इसके बच्चा हो जायगा, तो उसे मार दूँगा। इसे छोड़ दूँगा। इसके गर्भ में उस राक्षस राजा का देवद्रोही असह्य वीर्य स्थित है। आप कोई अन्यथा विचार न करें। प्रसव काल तक इसे मेरे पास रहने दें, प्रसव होते ही मैं इसे विमुक्त कर दूँगा।"

इस पर क्षोभ के स्वर में नारदजी ने कहा—'सहस्रनेत्र होने पर भी तू अन्धा का अन्धा ही रहा। अरे, इस गर्भ में भक्तों का मुकुटमणि है। त्रैलोक्यवन्दित चराचर का पूजनीय, समस्त दोषों से रहित, परम भागवत, महान् गुणी, भगवान् वासुदेव का अनन्य उपासक, सर्वश्रेष्ठ सेवक भगवद्भक्त है।

इससे तुझे ही क्या किसी भी प्राणी को भय नहीं हो सकता। उसे मारकर तू क्या लेगा। फिर तू इसे मारना भी चाहे, तो नहीं मार सकता। भगवद्भक्तों को भला कौन मार सकता है? तू यदि अपनी कुशल चाहता है तो इसे इसी क्षण छोड़ दे।"

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! भगवद् भक्त का नाम सुनते ही इन्द्र भयभीत हो गया। उसने तुरन्त वहीं देवर्षि के सम्मुख मेरी माता को छोड़ दिया। इसके उदर में भगवद्भक्त है, इस गौरव से इन्द्र ने मेरी माता की परिक्रमा की। मेरे उद्देश से प्रणाम किया और देवर्षि को प्रणाम करके वह स्वर्ग चला गया।"

इधर मेरी माँ निरन्तर रुदन कर रही थी, जब उसने अपने रक्षक, भयत्राता भगवान् नारदजी को सम्मुख देखा तो वह उनके चरणों पर गिर पड़ी। अपने शोकाश्रुओं से उसने देवर्षि के पुनीत पादों का प्रक्षालन किया। दुःख में रोती हुई मेरी माता के मस्तक पर महर्षि ने अपना वरद्हस्त रखते हुए कहा—"बेटी! चिन्ता करने की कोई बात नहीं। तू सती साध्वी है, तेरे उदर में भगवान् का परम भक्त है, अमङ्गल न होगा, तू अपने घर चली जा।"

मेरी माता ने रोते रोते कहा—"प्रभो! अब मेरा घर कहाँ है? मेरे स्वामी मन्दराचल पर तपस्या करने चले गये हैं। सब अपने अपने गृह परिवार को छोड़कर भाग गये हैं। असुर

. मैं उन फूटे खण्डहरों में अकेली कहाँ रहूँगी। कौन वहाँ मेरी



रक्षा करेगा, किसके आश्रय में मैं अपने दिन काटूँगी। आप करुणा के सागर हैं, शरणागतवत्सल हैं। आपने मुझे कृपा करके शत्रु के हाथ से छुड़ाया है, मेरा उद्धार किया है, तो मुझे कुछ काल के लिए अपने चरणों में ही आश्रय दीजिये। आप की छत्रछाया में रहकर मैं अपनी विपत्ति को काट ले जाऊँगी। भगवन् मैं आप की शरण हूँ आपके चरणों के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई अकुतोभय स्थान दिखाई नहीं देता। आप मुझ दीना का परित्याग न करें, मुझे अपनी शरण में ही रखें।"

प्रह्लादजी कहते हैं—"दैत्यकुमारो! मेरी माता की ऐसी करुण भरी वाणी सुनकर महामुनि का नवनीत के समान कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया। वे बोले—"वैसे तो साधु के समीप स्त्री का रहना उचित नहीं, किन्तु भगवद्भक्त की माता होने के कारण तुम लोक माता हो, सबकी वन्दनीया हो, अतः जब तक तुम्हारे पति लौटकर नहीं आते, तब तक तुम सुख पूर्वक मेरे आश्रम पर रहो।"

यह सुनकर मेरी माता को बड़ा सन्तोष हुआ। वे अपने आँसू पोंछकर दुःख और लज्जा से सिकुड़ी हुई नीचा सिर करके देवर्षि के पीछे पीछे चलने लगीं। अपने आश्रम पर पहुँचकर मुनि बड़े स्नेह के साथ बोले—"देख, बेटी! संकोच करने की कोई बात है नहीं। तू इसे अपने पिता का ही घर समझ। मेरे तप के प्रभाव से यहाँ कोई भी जीव जन्तु तेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। यहीं रहकर तू अपने शुभ दिनों की प्रतीक्षा कर।"

मेरी माँ ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! मेरा प्रसवकाल

सन्निकट ही है गर्भ के दिन बहुत पहले ही पूर्ण हो चुके हैं। मैं यह चाहती हूँ, यहाँ ऋषि आश्रम पर प्रसव न हो। मेरे पति लौट आवें, तब घर पर ही मेरे सन्तान हो।"

मुनि तो सर्वसमर्थ थे, तपस्या के द्वारा उन्हें सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे अपने प्रभाव से अनुग्रह निग्रह करने में समर्थ थे, अतः मेरी माता पर प्रसन्न होकर बोले—"अच्छा बेटी! तू जैसा चाहती है, वैसा ही होगा। तेरा, बालक तब तक गर्भ से बाहर न होगा, जब तक तेरे पति लौटकर न आवेंगे। तेरे गर्भस्थ बालक को उदर में ही सब ज्ञान हो जायगा। वह सब सुनेगा समझेगा।"

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! तुम चाहे, विश्वास करो या न करो। माता के गर्भ में ही, मैं इन सब बातों को स्पष्ट सुन रहा था और समझ भी रहा था। मेरी माता इस वर को पाकर परम प्रसन्न हुई। उन्हें ऋषि की कुटी पर कुछ काम तो था नहीं, फिर भी वे भक्ति के वश प्रातःकाल जाकर जल ले आतीं, ऋषि के आश्रम को झाड़ बुहार कर लीप देतीं। पूजा के लिये पत्र पुष्प ले आतीं। सारांश जितनी भी वे कर सकती थीं, मुनि की सेवा किया करतीं। मेरी माता एक तो स्वभाव से ही सरला थीं, पतिव्रता थीं, दोना थीं ऋषि के चरणों में उनकी अत्यन्त श्रद्धा थी, इसलिये मुनि भी उस पर बड़ी कृपा रखते। उसे घर की याद न आवे, इसलिये नित्य नियम से कथा सुनाते, भागवत धर्मों का निरूपण करते। ज्ञान की गूढ़ से गूढ़ बातें बताते। प्रेम की प्रक्रिया समझाते। भाव अनुभाव समझाते श्रद्धा भक्ति की व्याख्या करते और नाना इतिहास सुनाते। मेरी माताजी

८

का चित्त तो घर की चिन्ता में लगा रहता, वे कुछ सुनतीं कुछ वैसे ही बिना सुने समझे हाँ हाँ हूँ हूँ कर देतीं। ऋषि का मुख्य अभिप्राय तो मुझे सुनाने का था, माता को लक्ष्य करके वे मुझे ही विशुद्ध भागवत् धर्मों की शिक्षा दिया करते थे। उन परम कारुणिक सर्वसमर्थ मुनि ने धर्म के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का तथा, विशुद्ध ज्ञान का यथावत् उपदेश दिया। पूर्व जन्मों के संस्कारों से केवल श्रवण मात्र से ही मैंने उनके परम रहस्यमय गोपनीय उपदेश को माता के उदर में ही धारण कर लिया। मेरी माता को तो अब वे सब बातें भूल गईं। उनके लिये तो वे सब स्वप्न के समान हो गईं। वे तो उस कथा को समय बिताने का साधन समझती थीं। एक तो स्त्रियों को घर गृहस्थी की चिन्ता पुरुषों से अधिक रहती ही है। दूसरे उन्हें जितनी बेटा बहू की कथा प्यारी लगती है उतनी भागवती कथा प्यारी नहीं लगती इसीलिये मेरी माँ को वे सब बातें याद नहीं रहीं। समय भी बहुत अधिक हो गया। बहुत दिनों में बात भूल भी जाते हैं, किन्तु मेरे हृदय पटल पर तो वे सब बातें ज्यों की त्यों लिखी हुई हैं। मैं उन्हें कैसे भूल सकता हूँ। यदि तुम लोगों की उन बातों को सुनने की श्रद्धा हो, तो मैं तुम्हें भी उन्हें सुना सकता हूँ।"

यह सुनकर असुर बालक बड़ी उत्सुकता के साथ बोले—"हाँ हाँ हमारी बड़ी सुनने की इच्छा है, आप हमें उन बातों को अवश्य सुनाइये।"

धर्मराज युधिष्ठिर कह रहे हैं, राजन् जब असुरों ने इस प्रकार जिज्ञासा की, तो प्रह्लादजी मेरे बताये हुए ज्ञान को उन असुर बालकों को सुनाने लगे।

छप्पय

नारदजी मग मिले इन्द्र कूँ बहु धिक्कारयो।
जानि उदर महँ मोइ मातु तजि स्वर्ग सिधारयो ॥
मम माता कूँ लाइ रख्यो निज आश्रम मुनिवर।
मोकूँ करि उद्देश सुनावें कथा मनोहर ॥
माँ मुनि की सेवा करे, पायो इच्छा प्रवस वर।
सुन्यो भागवत धर्म तहँ, उदर माहिँ मैंने सुघर ॥



भागवत धर्म का उपदेश

(४७५)

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत ॥
(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

असुर तनय तव कहें हमें हू ताहि सुनाओ ।
बोले-श्री प्रह्लाद—सुनाऊँ इत मन लाओ ॥
जन्म वृद्धि परिणाम जीर्णता नाश तथा क्षय ।
ये सब तन महँ होहिँ आत्मा नित्य अनामय ॥
कनक माँहि मल मिलि गयो, साधनतें नर पृथक् करि ।
त्यों ही आत्मा देहतें, करे, पृथक् तब मिलहिँ हरि ॥

जो सब में समान रूप से व्याप्त है, जिसकी प्रभा से सभी प्रभावान् हैं। जिसके प्रकाश से सभी प्रकाशित हो रहे हैं, उस आत्मा में दुःख नहीं शोक नहीं, चिन्ता नहीं भय नहीं। उसी का जब माया के साथ संसर्ग हो जाता है, माया तो वह

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! दैत्यबालकों को मेरे कथन को बताते हुए प्रह्लादजी ने कहा—'देखो भाई ! भगवान् श्री हरि ईश्वर सभी प्राणियों में विराजमान हैं। ऐसा विचार करके सभी प्राणियों का मन से सम्मान करे और सेवा द्वारा उनकी यथा साध्य कामनाओं को पूर्ण करे ।

की उपाधि से वह बद्ध सा प्रतीत होने लगता है। अनात्म में आत्म बुद्धि करना यही मायाजनित अज्ञान है। जब जीव उपाधि को त्यागकर अपने सत् स्वरूप को समझ जाता है, तब वह मायातीत बन जाता है। इसीलिये मनीषियों ने आत्म अनात्म विवेक का ही नाम ज्ञान कहा है। ज्ञान हो जाने पर ही आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द घन श्री हरि का यथार्थ बोध होता है, अतः पहिले यही समझना आवश्यक है, कि मायिक पदार्थों से आत्मा में क्या विलक्षणता है।

धर्मराज युधिष्ठर से श्री नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब असुर बालकों ने प्रह्लादजी से आत्म ज्ञान की जिज्ञासा की, तो वे मेरे बताये हुए ज्ञान का स्मरण करके उसी को अत्यन्त ही संक्षेप में कहने लगे। प्रह्लादजी कहते हैं—"भाइयो! मुख्य ज्ञान तो यह है, कि तुम आत्मा और अनात्मा को जान लो।" देह अनात्मा वस्तु है, चैतन्य आत्मा है।

असुर बालकों ने कहा—"भैया, हम तो देह को ही आत्मा समझते हैं। देह से पृथक् आत्मा तो दिखाई देता नहीं।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भैया! देह आत्मा नहीं हो सकता। देह तो उत्पन्न होती है, उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त होती है। वृद्धि होते होते ही वृद्धि की सीमा अर्थात् परिणाम को प्राप्त होती है। फिर इसमें क्षय आरंभ होता है, सभी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती हैं। क्षीणता होने से जीर्णता आती है। जीर्ण होते होते नाश हो जाता है। इसे आप सभी देहों में देखेंगे। आम के फल को ही लीजिये। वृक्ष पर जब बौर लगता है तो उसमें राई की भाँति छोटे छोटे फल उत्पन्न होते हैं। फिर वे फल क्रमशः नित्य ही बढ़ते हैं। बढ़कर

जितना आम बढ़ना चाहिए, उतना उसका परिणाम है, उतना बढ़ जाता है। बढ़ जाने के अनंतर उसमें पीलापन आने लगता है। परिणाम प्राप्त होने पर उसमें क्षय आरम्भ हो जाता है। फिर वह पेड़ पर ही पिलपिला हो जाता है, पक जाता है, गूदा कठिन से गुलगुला हो जाता है। रङ्ग बदल जाता है, डाली और फलका सम्बन्ध शिथिल पड़ जाता है। एक दिन होता है जब फल पककर अपने आप चू पड़ता है, डाली को छोड़कर गिर पड़ता है। ये ६ विकार समस्त शरीरों में दृष्टिगोचर होते हैं। शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश तो होता नहीं। नाश उसीका होता है, जिसका जन्म होता है। आत्मा तो जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय, जीर्णता और नाश इन ६ विकारों से सर्वथा रहित है, उसका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।"

इस पर असुर बालकों ने कहा—"तब आत्मा क्या वस्तु है? हम तो यही समझते हैं शरीर के साथ आत्मा उत्पन्न होती है, शरीर के मर जाने पर मर जाती है।"

प्रह्लादजी ने हँसकर कहा—"आत्मा में जन्म मरण संभव नहीं। उसका तो आविर्भाव और तिरोभाव होता है। दो लकड़ियों के मथने से उनमें अग्नि उत्पन्न हो गई, जलने लग गई शनैः शनैः वह मन्द होते होते बुझ गई। तो इससे यह न समझना चाहिए कि अग्नि सर्वदा बुझ ही गई। दोनों लकड़ियों के मन्थन के पूर्व भी उनमें अग्नि थी। मन्थनसे उन लकड़ियोंमें अग्नि की अभिव्यक्ति हो गई, आविर्भाव हो गया। जब उसका आधार ईंधन समाप्त हो गया तो वह अपने नित्य स्वरूप में पुनः जाकर मिल गई। उसका नाश नहीं हुआ, केवल तिरोभाव हो गया। नाश हो जाता तो दूसरी बार मन्थन से अग्नि प्रकट नहीं होती।

उत्पन्न और विनाश ईंधन में संभव है। अग्नि में नहीं। इसी प्रकार आत्मा का न जन्म होता है न मरण। जन्मादि ६ विकार तो शरीर के हैं ?"

असुर बालकों ने पूछा—"फिर आत्मा को कैसे जाने ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"भौतिक देहों से जो भिन्न है वही आत्मा है। देह अनित्य है, आत्मा नित्य है। देही का नाश होता है, आत्मा अविनाशी है। देह अनेक धातुओं और मलों के कारण अशुद्ध है, आत्मा नित्य शुद्ध है। देह अनेक हैं असंख्य हैं, आत्मा एक है। देह क्षेत्र है आत्मा उसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ है। देह एक भूमि है, आत्मा उसका अधिष्ठाता है। देह विकारवान् है आत्मा अविकारी है, देह का ज्ञान दूसरे के द्वारा होता है, आत्मा स्वयं प्रकाश है। देह भूतों का कार्य हैं आत्मा सबका कारण है। देह एकदेशीय परिच्छिन्न है, आत्मा सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। देह आसक्तिवाला है, आत्मा असङ्ग निर्लेप है। देह अपूर्ण है, आत्मा पूर्ण अनावृत है।

इस प्रकार देह आत्मा से सर्वथा भिन्न है। देह में जो मैं मेरे पन का भाव हो गया है, अज्ञान के कारण है। जब तक आत्मा के पीछे बताये लक्षणों को समझकर देह को उससे भिन्न करके न देखेंगे तब तक आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होगा। देह संसर्ग से आत्मा ऐसा मिल जुल गया है, कि विना परिश्रम इसका शुद्ध बोध नहीं होता।

असुर बालकों ने कहा—"जब देह के साथ आत्मा इतना मिल जुल गया है, तब इस अनित्य नाशवान् देह के द्वारा उस नित्य शाश्वत आत्मा की उपलब्धि कैसे हो सकती है ?

प्रह्लादजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"इसी का नाम तो साधन है। यही तो मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। देखो, जब खान में से सुवर्ण निकाला जाता है तो जैसे हमारी अँगूठी का सोना दम-दम दमक रहा है ऐसा सुवर्ण खान से थोड़े ही निकलता है। खान से जो सुवर्ण निकलता है—वह बड़ा मलिन होता है। उसमें कंकड़ पत्थर आदि मिले रहते हैं। उनके मलों के कारण वह तेजस्वी प्रभावान् होने पर भी मलिन सा दिखाई देता है। जो उसके विशेषज्ञ हैं वे बार-बार उसे अग्नि में डालकर—तपाकर—नाना युक्तियों द्वारा शुद्ध बनाते हैं। जितने मल हैं उन्हें विविध उपायों से पृथक् कर देते हैं। जब वह केवल शुद्ध सुवर्ण रह जाता है तो चमकने लगता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप के ज्ञाता पंडित जन अध्यात्म योग के द्वारा देहरूप क्षेत्र में ही ब्रह्म पद को उपलब्ध कर लेते हैं।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"फिर देह किस का नाम है ? देह करके हम किन किन वस्तुओं को समझें ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से ही सम्पूर्ण संसार की सृष्टि है। जब ये तीनों गुण न कोई किसी से कम न अधिक इस प्रकार समान रूप से स्थित रहते हैं, तो उन गुणों की साम्यावस्था का ही

नाम 'प्रकृति' है उसमें कोई सृजन की शक्ति नहीं, वह अक्रिय है। जब प्रकृति में विकृति होती है। समान गुणों में क्षोभ होने से असमानता हो जाती है, तभी प्रकृति का कार्य चलता है। मूल प्रकृति से महत्तत्व, उससे अहंकार, सात्विक, राजस् तथा तामस् होने से भूतों तथा इन्द्रिय मन आदि को उत्पन्न करता है। अतः सामान्य तया मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन आठों को प्रकृति कहते हैं। ब्रह्माण्ड के चारों ओर इन अष्ट प्रकृतियों के ही क्रमशः आवरण हैं और एक आवरण से दूसरा आवरण दस गुना है। आठ ये प्रकृति, तीन गुण, शब्द, रूप रस, गंध और स्पर्श पाँच ये तन्मात्रायें, इन १६ विकारों के सहित का ही नाम देह है। इन सब में एक 'पुरुष' अनुगत है। जैसे माला में सूत अनुगत है। देह दो प्रकार की मानी है, स्थावर देह और जंगम देह। स्थावर देह तो जैसे कंकण पत्थर, वृक्ष आदि है जो अपने स्थान से स्वयं नहीं चल सकते। जंगम देह वे कहलाते हैं जो चलते फिरते हैं। जैसे पशु, पक्षी मनुष्य आदि। अब इस देह में ही आत्मा का अन्वेषण करो।"

असुर बालकों ने कहा—"वही तो हम पूछना चाहते हैं, अन्वेषण कैसे करें।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"अरे, भाई देखो! हम गंगा जी में स्नान कर रहे हैं। वहाँ स्नान करते करते हमारा एक रुपया गिर पड़ा। नीचे बहुत सी छोटी छोटी सीपें भी हैं कंकण पत्थर के

गोल गोल टुकड़े भी है और भी हड्डी आदि के टुकड़े पड़े हैं। उनमें से हमें अपना रुपया खोजना है। हाथ में नीचे की सब वस्तु उठाते हैं। यह सीप है, रुपया नहीं है इसे छोड़ दो। यह पत्थर का टुकड़ा है रुपया नहीं है इसे छोड़ दो। यह कांच का टुकड़ा है रुपया नहीं है इसे छोड़ दो। यह तो किसी मृतक की हड्डी है रुपया नहीं फेंक दो। ऐसे हम सब वस्तुओं को ध्यान से देखते हैं। रुपये के गुण न पाकर उसे छोड़ देते हैं। अन्त में सब निकालने पर हाथ में चमकीला सिक्का आ जाता है। हम प्रसन्न हो जाते हैं अरे, यही तो हमारा रुपया है इसी के लिये तो सब कुछ कर रहे थे।

या, यों समझो कि हमारे हाथ में कोई माला है। उसमें नाना प्रकार की मणियाँ हैं। हम एक दाने को लेकर कहें—क्या यह माला है तो गुरु कहेगा नहीं यह माला नहीं हैं क्योंकि इसके निकाल लेने से माला नष्ट न होगी। तब दूसरे दाने को लेकर कहते हैं क्या यह माला है। गुरु कहता है यह भी माला नहीं। उनमें से प्रत्येक दाने को पूछे। कोई भी माला नहीं सब के संघात का नाम माला है। वह भी सूत्र के अधीन है। दाने सब ज्यों के त्यों बने रहें, एक सूत्र को निकाल लीजिये माला का अस्तित्व न रहेगा। वह सूत्र यद्यपि सब दोनों में समान रूप से अनुस्यूत है। तथापि उन दानों में मिल नहीं गया है अपने पृथक अस्तित्व को खो नहीं बैठा है। वह उन दानों से सर्वदा पृथक् है निर्लेप है इसी प्रकार ये जगत के समस्त

विकार माला के दाने हैं सूत्रात्मा इनसे पृथक् रहता हुआ इनका साक्षी मात्र है। वह इस दृश्य प्रपञ्च से विलक्षण और निराला है। सब में रहता हुआ भी सबसे पृथक् है। इसी प्रकार आत्मा को इस देह में ही जो बुद्धि को सूक्ष्म बनाओ स्थूलता को छोड़ो, इधर उधर विषयों में फसी बुद्धि को विचार में विवेक में लगाकर सूक्ष्म करो। स्थूल पदार्थों को सोचते सोचते बुद्धि स्थूल हो जायगी। वह भौतिक पदार्थों की सत्यता आगे सोच ही न सकेगी। भूतों से आगे सूक्ष्म तत्व अहंतत्व महत्तत्व प्रकृति तत्व या प्रकृति के परे के तत्व का विचार करो। उसे आत्म तत्व का विचार अति सूक्ष्म बुद्धि वाले मनीषी ही कर सकते हैं। जो सब अवस्थाओं का साक्षी है वही आत्मा है।

असुर बालकों ने कहा—"हम तो साक्षी मनको समझते हैं। मन में जो आता है कर डालते हैं मन ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कराता है।

प्रह्लादजी ने कहा—ठीक है अच्छा मन ही साक्षी सही। यदि मनके द्वारा ही सब कुछ होता है तो यह करना चाहिए ऐसा विकल्प मनमें क्यों होता है, फिर किसकी प्रेरणा से यही करना चाहिये यह वृत्ति जागृति होती है ?"

असुर बालकों ने कहा—"हाँ मनमें संकल्प होते हैं, किन्तु जब हम कर्तव्य अकर्तव्य का बुद्धि से निर्णय कर लेते हैं तो विकल्प दूर हो जाता है।

इस पर हँस कर प्रह्लाद जी ने कहा—तब तो मन की भी साक्षी बुद्धि हुई। बुद्धिमें स्वयं निर्णय करने की सामर्थ्य नहीं उसे भी शक्ति आत्मा से प्राप्त होती है। देखिये, हम जागते रहते हैं, तो इन्द्रियाँ काम करती हैं, स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ प्रसुप्त हो जाती हैं, उस समय मन इधर उधर भटकता रहता है। सुपुप्त अवस्था का अनुभव करता है, वही सब का साक्षी आत्मा है। वह जागृत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में समान रूपसे साक्षी है वही सर्वावस्था को साक्षी परमात्मा कहलाता है।

असुर बालकों ने कहा—ये जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति क्या आत्मा की वृत्ति है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"नहीं, आत्मा में वृत्ति कहाँ ? ये सब तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। अब यों समझो हम वाटिका में बैठे लिख पढ़ रहे हैं, वायु चली बड़ी सुगन्धि आई। हम प्रसन्न हो गये। बड़ी सुगन्धित वायु है। वास्तव में सुगन्धि वायु में तो है नहीं। गन्ध का आश्रय वायु है। गन्ध से वायु का ज्ञान होता है। उसी प्रकार बुद्धि की इन कर्म जन्य तथा परिवर्तित होने वाली जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं द्वारा आत्मा के निर्लेप असंग और एकरस स्वरूप का ज्ञान करना चाहिये।

असुर बालकों ने कहा—"तब तो आत्मा ही सत्य रहा। यह संसार तो सर्वथा मिथ्या ही सिद्ध हुआ। हँसते हुए प्रह्लाद जी ने कहा—"भाई ! यही तो मैं कह रहा हूँ। इस संसार का मूल

यह देहाध्यास ही है। देह में आत्म बुद्धि होने से ही संसार की प्रतीति है। गुण और कर्म इसके निमित्त हैं। यह जगत् अज्ञान जनित और मिथ्या ही है।"

असुर बालकों ने कहा—"भाई! हमें तो यह संसार प्रत्यक्ष दीख रहा है। यदि इसका अस्तित्व न होता तो इसकी प्रतीति कैसे होती?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"जो होता नहीं उसकी प्रतीति नहीं होती क्या? गन्धर्व नगर कुछ वस्तु है क्या? आकाश में यह जो नीले नीले बादल दिखाई देते हैं क्या यह नीला आकाश है? किन्तु सभी कहते हैं नीला आकाश दिखाई देता है। वर्षात् में इन्द्र धनुष दीखता है क्या ऐसा कोई धनुष रखा है? न होने पर भी प्रत्यक्ष दीखता है। स्वप्न में सिंह दिखाई देने से हम उसके कारण थर थर कांपने लगते हैं, क्या उस समय खटिया पर कोई चार पैर का सिंह बैठा था? स्वप्न का सिंह मिथ्या होने पर भी हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता था, उससे भय भी होता था। इसी प्रकार यह संसार वास्तव में कुछ भी न होने पर हमें अज्ञान के द्वारा सत्य सा प्रतीति होता है। इसलिये भाइयो! इस संसार सङ्कट से सदा के लिये मुक्त होने के लिये तुम लोगों को दृढ़ता के साथ कोई उपाय करना चाहिए।

असुर बालकों ने कहा—"क्या उपाय करें भाई। तुम्हीं बताओ।

प्रह्लाद जी ने कहा—"जिससे इस त्रिगुणात्मक जगत् का अत्यंताभाव हो, कर्मों का बीज सर्वदा के लिये नष्ट हो उस योग का आप लोगोंको साधन करना चाहिये। यह व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि में नहीं लग सकती। लौकिक विषयों को ही ग्रहण करने वाली बुद्धि की वृत्तियाँ जब तक निवृत्त न होंगी तब

तक आत्मसाक्षात्कार न होगा।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"यही तो हम पूछ रहे हैं। जिससे अपने स्वरूप का बोध हो ऐसा उपाय बताओ।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"कोई एक उपाय हो तो मैं बताऊँ उस आत्मा के अनुभव के लिये सहस्रों उपाय हैं। जिसे जो रुचिकर हो, जिसके जो अनुकूल हो।"

असुर बालकों ने कहा—"भैया! सहस्रों उपाय हैं। यह ठीक है, किन्तु उनमें से कुछ तो बताओ। कुछ मुख्य मुख्य का निर्देश करो।"

धर्मराज से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! असुर बालकों की जिज्ञासा पर मैंने जो आत्मानुभव के उपाय बताये उनमें से कुछ का वर्णन प्रह्लादजी उन बच्चों के सम्मुख करने लगे।

छप्पय

यह संसार असार स्वप्नवत सत्य लखावे।
आत्मज्ञान गुरु कृपा बिना नर कबहुँ न पावे॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति वृत्ति को साक्षी जो है।
सत् चित् आनँद रूप ब्रह्म पद आत्मा सो है॥
जनम मरन चक्कर छुटे, कर्म बीज जाते नसे।
करे योग साधन सतत, दिव्य ज्ञान हिये महँ बसे॥

आत्मानुभव के कुछ उपाय

(४७६)

तत्रोपाय सहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

आत्मा अनुभव हेतु उपाय असंख्य जगत महँ ।
गुरु शुश्रूषा भक्ति निरन्तर सन्त चरन महँ ॥
हरि उपासना कथा कीरतन महँ रति नित-नित ।
प्रभु प्रतिमा महँ प्रेम कृष्ण चरननि चिंतन चित ॥
काम, क्रोध, मद मोह अरु, मत्सर लोभ विहाय सब ।
निरखे सब महँ श्याम कूँ, पावे प्रभु पद प्रेम तव ॥

जिन कर्मों के द्वारा मन कृष्ण चरण कमलों में लगे, वास्तव में वे ही तो कर्म हैं, शेष सब अकर्म हैं, मिथ्या कर्म हैं अज्ञान जनित मोह का नाश बिना भगवद्भक्ति के नहीं हो सकता। जीव किसी के लिये तड़फड़ा रहा है। वह किसी की

---

*प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं। आत्मानुभव के सहस्रों उपाय होने पर भी उन सब में जो स्वयं साक्षात् भगवान् ने एक मुख्य उपाय बताया है वह यह है कि जिन साधनों से भी भगवान् श्रीहरि में स्वाभाविकी रति हो। उनका ही सर्वदा आचरण करना चाहिये।

खोज में हैं। जहाँ उसका मन रमता है जिधर आकर्षित होता है दौड़ता है, किन्तु कुछ दिनों में वहाँ से भी मन हट जाता है, फिर दूसरी वस्तु की ओर आकर्षित होता है, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी ऐसे ही इधर से उधर भटकता रहता है कहीं शान्ति नहीं पाता। जहाँ जाकर भटकना बन्द हो, जिसे पाकर कृतार्थ हो जाय फिर किसी अन्य को पाने की इच्छा ही न हो वही वास्तविक तत्व है। वही मनुष्य का परम साध्य है।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो भैया! सब साधनों का एक मात्र उद्देश्य यही है कि प्रभु के पाद पद्मों में अनुराग हो। जिन साधनों से भगवान् विष्णु में स्वाभाविकी रति हो उन उन कार्यों को सदा सर्वदा तत्परता के साथ करते रहना चाहिए।"

असुर बालकों ने कहा—"ऐसे कुछ कर्मों का निर्देश तो कीजिये। किन किन कर्मों के करने से कृष्ण पादपद्मों में रति होती है?"

प्रह्लादजी बोले—"देखो, प्रधान कर्म है, गुरुदेव की प्रेम पूर्वक पूजा करना। जिसकी गुरु में और गोविन्द में एकसी भक्ति नहीं, जो गुरु को मनुष्य करके नहीं मानते। जो उनकी सेवा में सदा तत्पर रहते हैं उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं। भगवान् उनके वश में हो जाते हैं। गुरु की जिसपर

प्रसन्नता नहीं हुई, उसने कितनी भी सम्पत्ति प्राप्त की हो उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। जिसे गुरु की कृपा प्राप्त है वह निर्धन होने पर भी सब से बड़ा धनी है, उसे प्राप्त करने को कुछ शेष रहा ही नहीं।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप गुरु की महिमा भगवान् से भी बढ़कर बता रहे हैं। यह ठीक है, गुरु विद्या में बड़े हैं, उनका सम्मान करना चाहिए, किन्तु उनमें ईश्वर बुद्धि रखे, यह तो हमें कुछ अत्युक्ति सी लगती है। गुरुके भी हमारी ही भाँति हाथ पैर हैं। उनमें भी हमारे जैसे गुण दोष हैं फिर आप उनको इतनी महिमा क्यों गा रहे हैं?"

इस पर सूतजी ने अत्यंत गम्भीर होकर कहा—"भगवन् आप को तो गुरु तत्व में किसी प्रकार की शंका हो ही नहीं सकती। आप संसारी लोगों की ओर से शंका कर रहे हैं महानुभाव! यह संसार भाव पर ही अवलंबित है। माता, बहिन, बुआ, पुत्री, पत्नी सभी तो स्त्री हैं। उनमें कोई ऐसा भेद नहीं हमारी माता भी किसी की पत्नी हैं वहिन भी किसी की पत्नी है, बूआ भी किसी की पत्नी है और पुत्री भी किसी की पत्नी है। किन्तु हम सबसे एकसा व्यवहार नहीं करते। भाव के ही कारण उनके साथ व्यवहार में भेद है। हमारा घर, आँगन, चक्की, सिल, बट्टा सभी पत्थर के हैं और भगवान् का श्री विग्रह, प्रभु की प्रतिमा भी पाषाणमयी है, किन्तु भाव का

भेद होने से मन्दिर में हम साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। घर के पत्थरों पर जूता पहिन कर चलते है। खड़ाऊँ भी काष्ठ के हैं, और माला भी काष्ठ निर्मित है एक को पैरों में पहिनते हैं दूसरी को पूज्य बुद्धि से सिरपर धारण करते हैं। यज्ञोपवीत भी सूत्र का बना है, और पादत्राण लंगोटी और मलमूत्र शुद्ध करने का कपड़ा भी सूत का है, एक को ब्रह्मरूप मानते हैं, दूसरे को साधारण वस्त्र। गड्ढे तालाब का जल भी पानी है और गंगा जल भी पानी है, एक को स्पर्श भी करने में घृणा है दूसरे को साक्षात् ब्रह्मद्रव मानते हैं। भगवन्! संसार में भाव ही प्रधान है। भाव से ही भक्ति है, भाव ही मुक्ति है। यदि हम गुरु को भी मनुष्य मानकर उससे कुछ सीखते हैं, तो वह भौतिक विद्या तो हमें आजायगी, किन्तु हमारे सद्भावों की वृद्धि न होगी। हृदय में सद्गुणों का विकाश न होगा। हम कला कौशल सीखकर अधिकाधिक सम्पत्ति संचित भले ही करलें, दैवी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव न होगा। गुरु की पूजा एक प्रकार की उपासना है। उपास्य में ईश्वर बुद्धि किये बिना उपासना हो नहीं सकती। सत्ययुग त्रेता आदि युगों में प्रायः प्रतिमा पूजा नहीं थी, उस समय गुरु में ही ईश्वर बुद्धि रखकर उनकी पूजा किया करते थे। तब देवता भी प्रत्यक्ष सशरीर होते थे। जब मनुष्यों में मैं बड़ा तू छोटा ऐसी ईर्ष्या होने लगी। तब अवतारों की पूजा ऋषियों द्वारा प्रचलित हुई। गुरु में मनुष्य भाव रखने से आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती।

इसमें तो अपनी श्रद्धा को बढ़ाना है। किसी को आत्म समर्पण करना है। दो ही मार्ग हैं या तो अपने आप जो सत्य अनुभव हो उस पर स्वयं चलना या अपने को सर्व भाव से सद्गुरु के चरणों में समर्पित कर देना। गुरु सेवा भक्ति के बिना हो नहीं सकती। यह दृढ़ विश्वास हो जाय, कि मेरा इनके ही द्वारा उद्धार होगा, तो चाहें गुरु में उतनी शक्ति न भी हो, तो अपने विश्वास के ही आधार पर बेड़ा पार हो जायगा। ऐसे एक नहीं अनेकों दृष्टान्त हैं, कि अज्ञगुरु में से ही भगवान् प्रकट हो गये हैं भगवान् तो सर्वत्र हैं, जहाँ प्रेम और विश्वास देखते हैं प्रकट हो जाते हैं।

एक कथा है, कि बंगदेश में कोई गुरु थे। उनके एक निष्ठावान् गृहस्थी शिष्य थे। गुरु तो साधारण ही थे, किन्तु उन धनी के वंश परम्परा के पुरोहित कुलगुरु थे। बंगदेश में गुरु भक्ति ही प्रधान है वहाँ साधु भक्ति उतनी नहीं है। वे सम्भ्रान्त गृहस्थ भक्त गुरु में. भगवद् बुद्धि रखते थे। समय समय पर गुरु उनके घर आते। दोनों दम्पति मिलकर भगवद् भाव से उनका पूजन सत्कार करते।

एक दिन उनका एक छोटा सा बच्चा सुवर्ण और मणियों का एक बहु मूल्य हार पहिने गुरु के समीप खेल रहा था। माता पिता कोई नहीं थे सर्वथा एकान्त था। गुरु के मन में पाप उत्पन्न हुआ। बच्चे का हार और उसके अभूषण उतार लिये। फिर सोचा—

"इसे ऐसे ही छोड़ दें तो घर में कह देगा।" अतः उसका गला घोटकर समीप में ही एक बड़ा संदूक रखा था उसी में रखकर ताला लगा दिया। सोचा—रात्रि में जब सब सो जायँगे तो इसे गंगाजी में फेंक आवेंगे। प्रातः इन आभूषणों को लेकर चल देंगे।" यही सोचकर वे निश्चिन्त हो गये।

इधर जब माता ने बच्चे को नहीं देखा। तो खोज होने लगी। इधर उधर ढूँढ़ा बच्चा कहीं भी नहीं। सब को चिन्ता हुई। किन्तु वे पति पत्नी निश्चिन्त थे। वे सोचते थे गुरु देव के यहाँ रहते हमारा अनिष्ट हो ही नहीं सकता।" उनकी ऐसी दृढ़ता का गुरु के हृदय पर भी प्रभाव पड़ा। उन्हें भी अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने दुःख के साथ अपने शिष्य से कहा—"भैया! हमसे बड़ा पाप बन गया। आभूषणों के लोभ से हमने तुम्हारे बच्चे को मार डाला।"

शिष्य ने दृढ़ता के स्वर में कहा—मेरे गुरु को तो लोभ स्पर्श भी नहीं कर सकता। लोभ तो दूसरों की वस्तु पर होता है। जब हमारा सर्वस्व गुरु का ही है, तो वे लोभ क्यों करने लगे?" अतः वे तो जीवनदान देने वाले हैं। मार कैसे सकते हैं।"

गुरु ने कहा—"ना भैया हमारे मनमें पाप आगया। इसी लिये यह गर्हित परम निन्दित कार्य हमसे बन गया।"

शिष्य ने कहा—"मेरे गुरु को तो पाप स्पर्श भी नहीं कर सकता।"

गुरु उनकी निष्ठा देखकर झुंझला उठे। वे सन्दूक को उठा लाये और उन दोनों के सम्मुख रख दिया। सन्दूक खोलने पर बच्चा मरा निकला। दोनों में से किसी को न शोक हुआ न विस्मय। उन्होंने बच्चे को उठाकर गोद में रखा। गुरु के चरणों का चरणामृत लिया और उसके मुख में डालते हुए कहा—"यदि हमने मनसा वाचा कर्मणा कभी भी गुरु पर अविश्वास न किया हो, तो यह बालक जीवित हो जाय।" आश्चर्य की बात कि गुरु का चरणोदक मुख में पड़ते ही बच्चा हँसता हुआ उठ खड़ा हुआ। इस पर उन दोनों को तो कुछ भी आश्चर्य न हुआ किन्तु गुरुका अभिमान बढ़ गया।

सुनते हैं कुछ काल के पश्चात् उनके किसी दूसरे शिष्य के यहाँ एक पुरुष की मृत्यु हुई। गुरुजी ने कहा—"देखो हम इसे अभी जिलाते हैं।" यह कहकर उन्होंने अपना चरणामृत स्वयं उसके मुख में डाला। किन्तु वह जीवित नहीं हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस कथा का सारांश इतना ही है कि शिष्य की दृढ़ श्रद्धा और सच्ची भावना ही फलवती होती है। जितने भी महापुरुष हुए हैं सभी ने गुरु भक्ति का अनुपम आदर्श उपस्थित किया। स्वयं साक्षात् भगवान् वासुदेव ने भी अवन्तीपुरी में जाकर गुरु सान्दीपन मुनि की निश्छल भाव से सेवा की थी। सभी जानते हैं, भगवान् को न कुछ प्राप्त ही करना शेष था न उन्हें विद्याओं की आवश्यकता थी

किन्तु गुरु शुश्रूषा का आदर्श उपस्थित करने के निमित्त ही उन्होंने यह सब लीला की। वे अपने सहपाठी सुदामा जी के साथ गुरुपत्नी के कहने पर वन से जाकर स्वयं ईंधन तोड़कर लाते थे और गुरु की सभी प्रकार की सेवा किया करते थे। इतिहास पुराणों में ऐसे एक नहीं अनेकों प्रमाण हैं जिनमें गुरु के कहने से शिष्यों ने हँसते हँसते प्राण दे दिये हैं। मुनियो! अन्य युगों की बातें जाने दें इस काल में ही ऐसे गुरुभक्त उत्पन्न हुए हैं जो अपनी गुरुभक्ति के कारण ही मूर्खसे सर्वशास्त्र पारंगत हो गये हैं। एक गुरु के पास बड़े बड़े विद्वान् शिष्य पढ़ा करते थे किन्तु एक गुरुभक्त शिष्य निरंतर गुरु-सेवा में ही लगा रहता था। एक दिनकी बात है कि आचार्य पढ़ाने को उद्यत हुए किन्तु उनका वह परम सेवक शिष्य तब तक नहीं आया था। वह आचार्य के वस्त्रों को धो रहा था आचार्य ने अन्य शिष्यों से कहा—"अभी उसे भी आ जाने दो तब पाठ आरम्भ करेंगे।"

अन्य विद्वान् शिष्यों ने कहा—"अजी महाराज! वह तो मूर्ख है। कुछ समझता बूझता थोड़े ही है। उसका आना न आना बराबर है।"

बस फिर क्या था आचार्य की उसी क्षण उस पर कृपा की दृष्टि हो गई। तत्क्षण उसकी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान हो गई और वह सबसे बड़ा अचार्य हो गया। सो, मुनियो! गुरु शुश्रूषा से असम्भव बात सम्भव हो जाती है। इस विषय में

मैं आप सबको एक इतिहास सुनाता हूँ। उसे आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

गुरु गोविंद को रूप जानि श्रद्धान्वित लावे।
गुरु मेरे सरवस्व कबहुँ नहि तिन्हें भुलावे॥
गुरु तें पहिले उठे अन्त महँ गुरु के सोये।
गुरु आज्ञा का देहि सतत तिनको मुख जोये॥
गुरु, मूरति को ध्यान करि, गुरु चरनामृत लेइ नित।
गुरु हित सौंपै देह कूँ, गुरु चरननि महँ रखहिं चित॥



गुरु शुश्रूषादि साधन

(४७७)

गुरु शुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च ।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३० श्लो)

छप्पय

गुरु सेवा जिन करी करयो तिन सबु जग माहीं ।
गुरु सेवन नहिँ करयो करयो तिन ने कछु नाहीं ॥
गुरु की मूरति मधुर ज्ञान की ज्योति जगावे ।
गुरु अनुकम्पा करैं, हिये को तम नसि जावे ॥
प्रभु प्रसाद समुझै सबहिँ, कहे नाथ ! नहिँ कछू मन ।
करि अरपन विनती करे, हे हरि ! हिय को हरौ तम ॥

यह संसार गुण दोषों से व्याप्त है। दोनों के मिश्रण से ही इसकी स्थिति है। संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसमें

---

* प्रह्लादजी आत्मानुभव के साधन बताते हुए कह रहे हैं—"भक्ति पूर्वक गुरु शुश्रूषा करने से, जो प्राप्त हो उसे भगवान् को समर्पित करने से, साधुओं का और भक्तों का सङ्ग करने से तथा ईश्वर का आराधन करने से भगवान् में स्वाभाविकी रति होती है ।

गुण ही गुण हों और कोई ऐसा भी नहीं जिसमें अवगुण ही अवगुण हों। इस गुण दोष से पूर्ण संसार में श्रीहरि सर्वत्र रम रहे हैं। जो गुण दोष सहित मोह वश जिस वस्तु में आसक्ति करता है तो वह उसी का रूप हो जाता है जिसे दोष दीखते ही नहीं। प्रेमवश, श्रद्धावश किसी से प्रेम करता है तो भगवान् वहां प्रकट हो जाते हैं। जैसे कोई स्त्री है। वह अपनी कामना पूर्ति के लिये पति के शरीर में भोग बुद्धि से आसक्त रहती है। तो उसे सदा संसार में ही भटकते रहना पड़ता है। पैदा होना पैदा करते रहना यही क्रम लगा रहेगा। यदि वह पति में ईश्वर बुद्धि करके उससे प्रेम करती है तो उसी में से भगवान् प्रकट होते हैं। सदा के लिये उसका जन्म मरण छूट जाता है और लक्ष्मी की तरह वह सदा वैकुण्ठ में जगत् पति के साथ दिव्यानन्दका अनुभव करती है।

प्रेम में दोष नहीं दीखते। जहाँ दोष बुद्धि है वहाँ प्रेम नहीं। यदि हमें दोष ही देखने की टेव पड़ जायगी तो संसार में सभी में दोष ही दोष दिखाई देंगे। दोष तो ऊपर तैरते रहते हैं। उन्हें देखने के लिये अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। गुण गर्भ में छिपे रहते हैं, अतः गुण ग्रहण के लिये गहरे में पैठना पड़ता है अपने आपे को भूलकर उसी में निमग्न होना पड़ता है। ढूँढ़ना पड़ता है, तब गुण प्राप्त होते हैं। इसोलिये स्त्रियों के लिये पति, शिष्यों के लिये गुरु ईश्वर रूप ही बताये गये हैं। यह संभव हो सकता है कि सती का जो पति है शिष्य का जो गुरु है हम अन्य लोगों की दृष्टि में उससे बढ़कर ज्ञानी ध्यानी सदाचारी अन्य भी पति या गुरु कहलाने वाले हो सकते हैं किन्तु उनका उद्धार तो उन्हीं से होगा जिनका

उन्होंने पल्ला पकड़ा है। पार जाने के लिये छोटी, बड़ी, सुन्दर, असुन्दर, सजी, बिना सजी, दृढ़, जर्जर अनेक प्रकार की नौकायें हैं। किन्तु हम सबसे तो पार जा नहीं सकते। किसी एक से ही पार जायँगे। जिसमें बैठकर हम चल रहे हैं वही नौका हमें पार करेगी हमारा प्रयोजन तो उसी नौका के मल्लाह से है। इसी प्रकार जिससे गठबन्धन हो चुका है वह पति कैसा भी हो उसी के साथ जीवन बिताना है उसी के द्वारा पार होना है। यह अच्छा नहीं दूसरा चाहिये दूसरा नहीं तीसरा चाहिये। इसमें तृप्ति नहीं। शान्ति नहीं उद्धार नहीं पार होने की आशा नहीं। हाँ यदि पति पतित हो जाय, परधर्मावलम्बी हो जाय तब उसके परित्याग में कोई दोष शास्त्रकारों ने नहीं बताया। अन्य समय उसकी सभी आज्ञाओं को बिना विरोध यथाशक्ति पालन करना चाहिये। सदियों के ऐसे असंख्यों दृष्टान्त हैं। एक बात में यदि आज्ञा उल्लंघन भी हो जाय तो कोई दोष नहीं। पति कहे तुम भगवान् की सेवा पूजा मत करो, तो यदि यह आज्ञा न भी मानी जाय तो कोई पाप नहीं। इसी प्रकार गुरु की भी सभी आज्ञा को विरोध श्रद्धा सहित मानना चाहिए। किन्तु यदि वह भगवान् के भजन को मना करे तो उसे न माने तो कोई दोष नहीं लगता। क्योंकि भगवद्भक्ति ही तो जीव का प्रधान लक्ष्य है। इसीलिये तो गुरु किये जाते हैं। गुरु दो कार्य करते हैं हमें मन्त्र की दीक्षा देते हैं परमार्थ की शिक्षा देते हैं। कभी-कभी शिक्षा कोई दूसरे गुरु देते हैं दीक्षा दूसरे। ऐसी दशा में दोनों में ही श्रद्धा रखनी चाहिये। किन्तु दीक्षा गुरु की अपेक्षा शिक्षा गुरु अधिक सम्माननीय और श्रेष्ठ हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! प्रह्लादजी अपना शिक्षा गुरु मुझे ही मानते थे। इसीलिये आत्मानुभव के सैकड़ों उपायों में से गुरु शुश्रूषा को उन्होंने सर्वप्रथमस्थान दिया है। इसी प्रसंग को नैमिषारण्य के शौनकादि मुनियों के सम्मुख सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों ! शिष्यों ने गुरु की आज्ञा का पालन के लिये किस प्रकार अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं की इस विषय के अनेकों दृष्टान्तों में से कुछ आपको सुनाता हूँ।

एक गुरु के समीप तीन शिष्य पढ़ते थे। प्राचीन वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के अनुसार बच्चा जहाँ ५।६ वर्ष का हुआ तहाँ माता पिता उसे गुरु गृह में छोड़ आते थे। इसी का नाम उपनयन (गुरु समीप ले जाना) संस्कार था। वहाँ गुरु उसे वेदमन्त्र गायत्री की दीक्षा देकर सदाचार की वेदादिधर्म शास्त्रोंकी शिक्षा देते थे। विद्यार्थी का एक मात्र कार्य था, गुरु की शुश्रूषा। पढ़ना उसका कार्य नहीं था। यह तो गुरु की इच्छा पर निभर था। गुरु जब योग्य समझेंगे तब पढ़ने बुला लेंगे। उसका काम तो यह होता था अपने समस्त शारीरिक सुखों को भूलकर सब प्रकार से गुरु की सेवा करते रहना, उनकी प्रत्येक आज्ञा का अव्यग्रभाव से पालन करना। घर घर से भिक्षा माँग कर लाकर गुरु को सौंप देना। गुरु उसमें से जितनी देदें उसी पर सन्तोष कर लेना। उनके लिये वन से फल, फूल, मूल, कंद समिधा तथा कुशा आदि आवश्यक वस्तुएँ लाना और वे जो भी करने को कहें उसे श्रद्धा सहित करना। उन आचार्य के तीनों शिष्य आज्ञाकारी और गुरु भक्त थे।

प्रथम शिष्य को एक दिन गुरु ने कहा—"देखो, तुम जा

कर खेत की मेड़ वना आओ जिससे खेत में से पानी न निकलने पावे।" शिष्य गुरु की आज्ञा से खेत की मेड़ बनाने चला, जाकर उसने खेत की मेड़ बनाई। मेड़ वनाते वनाते वर्षा होने लगी। एक ओर से पानी खेत की मेड़को काटकर बहने लगा। शिष्य ने जाकर देखा पानी खेत से निकल रहा है। गुरुजी की आज्ञा है पानी खेत से न निकले उसने इधर उधर से मिट्टी लाकर कटे हुए स्थान पर रखी। ज्यों ही वह मिट्टी रखता त्योंही पानी का प्रवाह उसे वहा ले जाता। बहाव का स्थान भी शनैः शनैः बढ़ने लगा। नियम ऐसा है कि वहते हुए पानी को रोकने के लिये पहिले फूटे हुए स्थान से पूर्व के स्थान को रोकते हैं उतनी देर में फूटे हुए स्थान पर यथेष्ट मिट्टी रख देते हैं जब तक पहिले रोके स्थान को काट कर पानी आता है तब तक यह फूटा स्थान यथेष्ट मिट्टी रखने से दृढ़ हो जाता है, इससे पानी निकलने नहीं पाता किन्तु यहाँ पानी का प्रवाह इतना तीव्र था कि उसमें ऊपर रोकने का अवसर ही नहीं था। जब शिष्य ने अपना सम्पूर्ण श्रम व्यर्थ हुआ समझा तब वह स्वयं फावड़े को टाल कर कटे हुए स्थान पर लेट गया। इससे जल रुक गया खेत पानी से भर गया। वर्षा भी वन्द हो गई, किन्तु शिष्य उठा नहीं। उठता है तो खेत का समस्त पानी निकल जायागा। गुरु आज्ञा का उल्लंघन हो जायगा। यही सोचकर वह सूर्यास्त तक विना खाये पीये यों ही पड़ा रहा।

रात्रि में जब गुरु ने देखा शिष्य अभी तक नहीं लौटा तो उन्हें वड़ी चिन्ता हुई। शिष्य वत्सल गुरु ने सोचा मैंने उसे खेत की मेड़ वनाने भेजा था, अभी तक लौटा नहीं। क्या कारण है। शिष्य के स्मरण से उनका हृदय भर आया। हाथ में लाठी लेकर दोनों शिष्यों को साथ लिये वे रात्रिमें खेत पर पहुँचे।

वहाँ देखा शिष्य नहीं है। तब तो वे बड़े चिंतित हुए। उच्च स्वर से पुकारने लगे—"बेटा आरुणी ? तुम कहाँ हो। जहाँ भी हो शीघ्रता से मेरे समीप चले आओ। शिष्य ने सोचा—मैं गुरु आज्ञा से ही तो यहाँ पानी को रोके पड़ा हूँ यदि अब गुरु बुला रहे हैं तो मुझे तत्क्षण जाना चाहिए। यह सोचकर वह वहाँ से उठकर उसी समय गुरु के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला गुरुदेव ! मैं यहाँ उपस्थित हूँ मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ?"

गुरु ने पूछा—बेटा ! तुम तब से कहाँ थे ?"

शिष्य ने कहा—"भगवन् ! आप की आज्ञा थी, मैं खेत के पानी को मेंड़ बनाकर रोकूँ जब मैं किसी प्रकार उसे रोकने में समर्थ न हुआ, तो स्वयं मेंड़ बनकर पानी को रोक कर पड़ा था। अब आपकी आज्ञा पाते ही पानी को बहुता हुआ छोड़कर चला आया।"

गुरु उसकी आज्ञाकारिता पर बड़े प्रसन्न हुए और आशीर्वाद देते हुए बोले—"तुमने निष्कपट भाव से गुरु शुश्रूषा की है, अतः बिना पढ़े ही तुम्हें समस्त विद्या आ जायगी और संसार में तुम बड़े यशस्वी होगे।" वे ही महानुभाव गुरु कृपा से संसार में परम तेजस्वी यशस्वी तथा मृत्यु को जीतने वाले उद्दालक ऋषि के नाम से विख्यात हुए।"

ऐसे ही एक उनके दूसरे शिष्य थे। उन्हें गुरु ने गो सेवा का काम सौंपा। वे दिन भर गौ चराते रात्रि में भिक्षा माँग कर निर्वाह करते गुरु तो उसकी परीक्षा लेना चाहते थे। अतः उससे पूछा—"क्या खाता है जो ऐसा मोटा हो रहा है ?"

शिष्यने सब बता दिया भिक्षा लाकर निर्वाह करता हूँ। इस पर गुरु ने कहा—"भिक्षा लाकर गुरु को देनी चाहिए गुरु जो दे उसी पर निर्वाह करना चाहिये। दूसरे दिन शिष्य ने ऐसा ही किया किन्तु गुरुजी ने एक ग्रास भी शिष्य को नहीं दिया शिष्य ने सोचा—गुरु जी नहीं देते जाने दो। मैं दुबारा माँग कर उसी पर निर्वाह करूँगा। दूसरे दिन से वह ऐसा ही करने लगा। गुरु जी ने पुनः उसे हृष्ट पुष्ट देख कर पूँछा—"अब तू क्या खाता है ?"

शिष्य ने बता दिया, दुबारा भिक्षा ले आता हूँ। गुरु जी ने डाँट कर कहा—"ऐसा मत करना। ऐसा करने से लोभ प्रकट होता है गृहस्थियों को कष्ट होगा।" शिष्य ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। अब वह दिन भर गौ चराता रात्रि में भिक्षा लाकर गुरु को दे देता। भूख लगती तो गौओं का यथेष्ट दूध दुहकर पी जाता।

गुरु जी तो उसके पीछे ही पड़े थे, कारण पूछने पर जब उसने दूध पीने की बात कही तो क्रोध करके गुरु बोले—"मेरी आज्ञा के बिना गौओं का दूध पीना पाप है। अब ऐसा मत करना।" उसने आज्ञा शिरोधार्य की। अब वह बछड़ों के मुख से गिरे फैन पर निर्वाह करने लगा। मालूम होने पर गुरु जी ने कहा—"बछड़े तुम पर दया करके अधिक फैन गिरा देते होंगे, फैन भी मत खाया करो।"

अब विचारा क्या करता, दिन भर गौ चराता भिक्षा माँग कर गुरु को देता। दूध, फैन, भी नहीं लेता। भूख के कारण एक दिन वह बहुत व्याकुल हुआ। वहाँ बहुत से आक के पेड़

खड़े थे। अत्यंत भूख में वह बहुत से आक के पत्तों को खागया। आक का दूध आँखों में भी लग गया, जिससे आँखें फूट गयीं। अंधा हो गया। फिर भी गौओं के पीछे घूमता रहा। घूमते-घूमते वह एक कुए में गिर गया। गौयें सायंकाल को विना अपने गोपाल के आश्रम पर लौट आईं। तब तो गुरु जी को बड़ी चिन्ता हुई, उनका हृदय भर आया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"प्रतीत होता है, उपमन्यु का भोजन मैंने सर्वथा बंद कर दिया है, इसीलिये भूख के कारण नहीं लौटा उसे क्रोध भी आ गया होगा। अतः चलो, उसे ढूँढें।' यह कहकर गुरु जी वन में बेटा! उपमन्यु बेटा! बेटा उपमन्यु कहकर चिल्लाने लगे। गुरु की वाणी सुनकर शिष्य ने कुएँ में से ही कहा—"गुरु देव! आक के पत्ते खाने से मेरे नेत्रों की ज्योति भी जाती रही है। अतः मैं कूएँ में पड़ा हूँ, यहाँ से आपकी आज्ञा का पालन कैसे करूँ।"

गुरुदेव सम्पूर्ण रहस्य को समझ गये, उससे देव वैद्य अश्विनी कुमारों की स्तुति करने को कहा—उसने स्तुति की। अश्विनी कुमारों ने स्तुति से प्रसन्न होकर उनकी आँखें ज्यों की त्यों बना दी और गुरु शुश्रूषादि से सन्तुष्ट होकर उसे सर्व शास्त्रज्ञ होने को आशीर्वाद दिया।" अश्विनी कुमारों के आशीर्वाद का गुरु ने भी अनुमोदन किया और वह विना पढ़े ही गुरु कृपा से समस्त वेदों का ज्ञाता हो गया। संसार में वे ही सर्व पूज्य उपमन्यु ऋषि हुए।

गुरुजी के तीसरे शिष्य का नाम था वेद। वह अत्यंत ही गुरु भक्त था। जो जितना ही दृढ़ धारणा वाला होता है, उसकी उतनी ही कठिन परीक्षा ली जाती है गुरुजी ने वेद को अपनी गृहस्थी का सब काम सौंप दिया।

वेद बहुत प्रातः काल उठते ही सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र से निवटकर सम्पूर्ण आश्रम को झाड़ बुहार कर स्वच्छ करना गुरु के वर्तनों को मलता, पीने तथा स्नान आदि को पानी भरकर स्वयं लाता। पानी के घड़ों को उठाते उठाते उसके कंधों में गड्ढे पड़ गये थे। फिर गुरु के तथा गुरु पत्नियों के वस्त्रों को धोता। उच्छिष्ट बर्तनों को मलता। सारांश रात्रि दिन गुरु के घर के कामों में ही लगा रहता। गुरुजी उससे भी मना नहीं करते थे। यही नहीं वे उसे सदा किसी न किसी काम में लगाये ही रहते। क्षण भर को भी विश्रा मन लेने देते। वह शीत उष्ण, भूख प्यास सभी दुःखों को सहता हुआ सब कार्यों को गुरु की इच्छानुसार ही करता रहता। न कभी काम से डरता न किसी भी समय असावधानी करता चिरकाल के पश्चात् गुरु उसकी शुश्रूषा से सन्तुष्ट हुए और उसे सर्वज्ञ होने का आशीर्वाद दिया। वेद अपने गुरु के आशीर्वाद ग्रहण करके और उनके पादपद्मों में प्रणाम करके स्नातक होकर घर लौट गये। उन्होंने विधिवत् विवाह किया और वे ही आचार्य हो गये। उनके समीप जो छात्र पढ़ने आते उनसे वे दया वश घर का कोई भी कार्य न कराते थे, वे जानते थे, कि गुरुगृह में रहकर सेवा करने में कैसा क्लेश होता है।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार शास्त्रों में गुरु शुश्रूषा के अनेकों उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े हैं। वे शिष्य धन्य हैं जो अपने शरीर के सुखों की तनिक भी चिन्ता न करके सदा गुरु शुश्रूषा में लगे रहते हैं।

आत्मानुभव के उपाय बताते हुए प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"गुरु शुश्रूषा से जनार्दन भगवान् अत्यंत शीघ्र

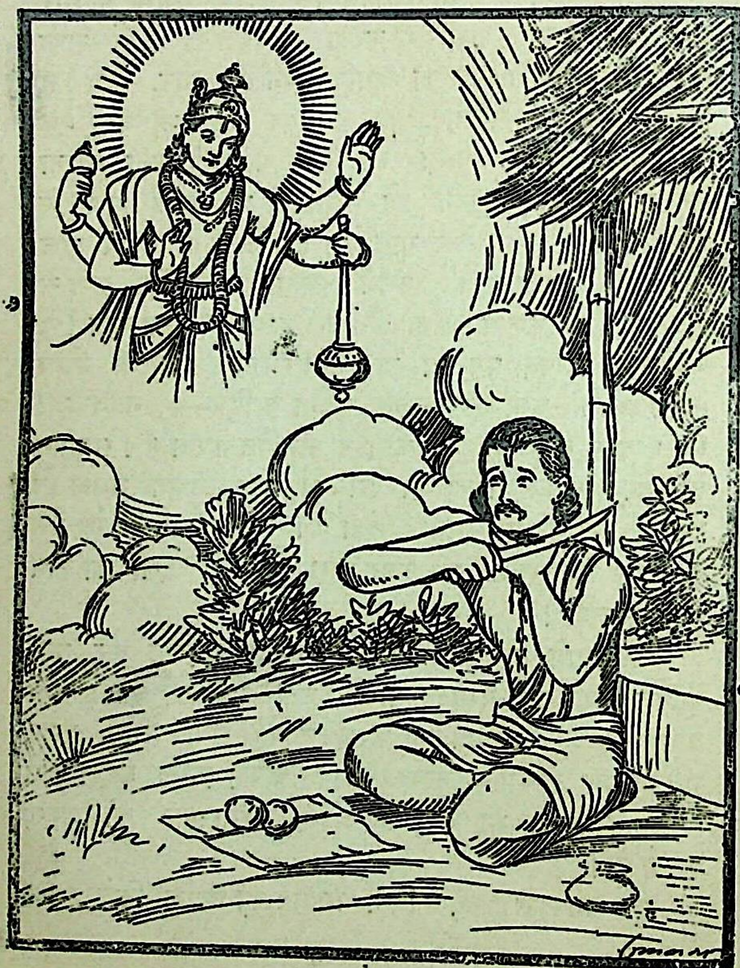
सन्तुष्ट हो जाते हैं। दूसरा उपाय है सर्व लब्धार्पण। जो भी कुछ प्राप्त हो उसे भगवान् को अर्पण कर देना। मन में ऐसी धारणा सर्वदा जागृत रखनी चाहिए कि सब के स्वामी श्री हरि ही हैं। जीव व्यर्थ में मेरी मेरी करता है। यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, यह मेरा निज का उपार्जित धन है। अरे, भैया! तू क्या उपार्जित कर सकता है। तू तो एक जल की बिन्दु एक पृथ्वी का कण एक नन्हा सा बीज भी नहीं बना सकता भगवान् की बनाई गुठली को, भगवान् की बनाई भूमि में उनके ही दिये हाथों से तू गाड़ देता है। उनके ही बनाये जल को उनकी प्रेरणा से ही उसमें डालता है। उन्हीं की कृपा से वृक्ष बढ़ता है, फलता फूलता है। उन फलों में तेरा क्या? तू क्यों उसमें अपने पन का अभिमान करता है। जो भी भोग्य पदार्थ आवे उसी को देखकर कहना चाहिये—हे गोविन्द! यह तुम्हारी वस्तु है, तुम्हीं को इसे समर्पित करता हूँ। समर्पित वस्तु को क्या कर सकता हूँ, इसमें जो मेरा मिथ्या ममत्व हो गया है, उस ममत्व को तुम्हें देता हूँ। आप इसमें से मेरे पन को ग्रहण कर लीजिये मेरे ऊपर प्रसन्न हुजिये।" इसी का नाम है सर्वसमर्पण।

अन्न आवे तो पहिले भगवान् को भोग लगा कर उन्हें अर्पित करके तब प्रसाद पाओ। जल आवे तो उसे प्रसादी बनाकर अच्युत को अर्पण करके पीओ। शैया, यान, वस्त्र, गंध जो भी सामग्री हो सबको भगवत् अर्पण करके ग्रहण करो अप्रसादी किसी भी वस्तु को ग्रहण करना पाप को ग्रहण करना है।

एक भगवद्भक्त थे, वे बिना भगवान् को अर्पण किये किसी

१०

वस्तु को ग्रहण नहीं करते थे। एक बार वे किसी विपत्ति में भूले भटके किसो अरण्य में पहुँचे। भूख से व्याकुल थे। एक सुन्दर



फल उन्हें मिला। मुँह में अकस्मात् डाल लिया। जब वह कंठ के नीचे उतर गया, तभी उन्हें स्मरण हुआ, मैंने इसे भगवान् को भोग नहीं लगाया। प्रभु को अर्पण नहीं किया अब क्या करते। दृढ़ता के साथ गले को पकड़ कर रह गये। उन्हें भय था, कहीं यह अनर्पित वस्तु मेरे पेट में न पहुँच जाय। अतः एक तीक्ष्ण शस्त्र लेकर उन्होंने ज्यों ही कंठ को काटना चाहा कि तत्क्षण भगवान् उनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर प्रकट हो गये। यह सबसे श्रेष्ठ साधन है, कि किसी भी वस्तु को बिना भगवत् अर्पण किये ग्रहण न करना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बताइये, इसमें लगता ही क्या है। भगवान् के सम्मुख रख दिया तुलसी पत्र छोड़ दिया विनती करली—"प्रभो! इसे स्वीकार करलो।" इतने से ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।" आगे प्रह्लादजी कहते हैं— "तीसरा साधन है साधु भक्तजनों का संग करना।"

मुनियो! सत्संग से बढ़ कर परमार्थ का कोई दूसरा साधन नहीं। भक्तों का सङ्ग करने से मनुष्यों की तो बात ही क्या पशु, पक्षी वृक्ष तक तर जाते हैं। साधु के संग से संसार में आज तक किसी का अकल्याण हुआ हो इसका एक भी उदाहरण नहीं मिलता। दुष्टों के संग से अच्छे अच्छे महात्मा लांछित हो जाते हैं। क्षण भर के साधु संग से तोते को पढ़ाने वाली वेश्या तर गई। जड़भरत जी से पालकी ढुलाने में

रहूगण राजा तर गया। हनुमान जी का मुक्का खाकर उसी सत्संग से लङ्किनी तर गई। सो, मुनियो! जिन्हें परमार्थ पथका पथिक बनना हो, उन्हें विषयियों का संग सर्वथा छोड़ कर साधुओं का संग करना चाहिये। सत्संगति मनुष्य को क्या से क्या नहीं बना देती। इसके अनेकों दृष्टान्त हैं।

प्रह्लादजी बता रहे हैं—"चौथा साधन है भगवान की उपासना करना।" सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् की उपासना से मन के सभी प्रकार के मल दूर हो जाते हैं हृदय पवित्र हो जाता है। मन में विषयों के प्रति जो श्रेष्ठ बुद्धि है वह हट जाती है। अन्तःकरण विशुद्ध बन जाता है। विशुद्ध श्रीहरि की उपासना के द्वारा ही असंख्यों भक्त इस भयंकर भव सागर को बात बात में पार कर गये। भगवान् की उपासना के अनेकों भेद हैं उनमें से जो अपने अनुकूल हो, जिस पद्धति की भी गुरु ने शिक्षा दी हो। उसी के अनुसार उपासना करनी चाहिये। उपासना करते करते उपासक के उपास्य वश में हो जाते हैं, फिर उपासक उनसे जो भी कराना चाहें, भगवान् उसी को करते हैं। भगवान् अपने उपासकों की बड़ी चिन्ता रखते हैं। जो उन्हीं के ऊपर निर्भर रहता है, ऐसे उपासक की सब भाँति से वे रक्षा करते रहते हैं, कि हमारे सच्चे उपासक को कोई कभी भी किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचा सके। भगवान् ने अपने परमप्रिय आयुध सुदर्शन चक्र को यही आज्ञा दे दी है, कि तुम अपने तेज से मेरे भक्तों की

रक्षा करते रहो। तभी से सुदर्शन चक्र सदा भक्तों की रक्षा करता रहता है, उन्हें बड़े बड़े सङ्कटों से बचाता रहता है। परम भक्त अम्बरीष को महामुनि दुर्वासा के शाप से सुदर्शन ने ही तो बचाया था। यह सब महाराज अम्बरीष की दृढ़ भक्ति और भगवान् यज्ञ पुरुष की उपासना ही का तो एकमात्र फल था। अतः आत्मानुभव के इच्छुकों के लिये भगवान् की उपासना करना, परम आवश्यक है।

छप्पय

सदासाधु सत्संग करे विषयिनि तें बचिकें।
समुझे सरबस साधु करे सेवा रचिपचि कें॥
तनतें मनतें और द्रव्यतें यथा शक्ति नित।
हरि उपासना करें हृदय तब होवै प्रमुदित॥
जे उपासना ईसकी, करें नहीं जगमहँ फँसे।
ते पामर पशु पतित नर, मरिकें नरकनि महँ बसे॥

———

अन्य साधन

(४७८)

श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात्तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥
(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

कृष्ण कथा महँ चित्त प्रेम तें सुने सुनावें ।
नित नव नव अनुराग बढ़े कबहूँ न अघावें ॥
ज्यों मधु महँ अनुरक्त रहे मधुलोलुप मधुकर ।
त्यों ई हरि गुन गान कृष्ण कीर्तन महँ तत्पर ॥
कथा कीरतन गुन श्रवन, करि करि हरि हिय महँ धरे ।
इत उत कबहुँ न जाइ चित, चरन कमल चिंतन करे ॥

किसी बात को सौ बार दुहराओ सौ बार ध्यान से सुनो अनायास बिना प्रयत्न के वह बात याद हो जायगी उसके संस्कार जम जायँगे। मनुष्य जैसी बात सुनता है, उसके

प्रह्लादजी असुर बालकों को आत्मानुभव के साधन बताते हुए कह रहे हैं—"देखो, भाई ! भगवान् की कथाओं में श्रद्धा करने से, भगवान् के गुणों का और कर्मों का कीर्तन करने से, उनके चरण कमलों का चिन्तन करने से, भगवत् प्रतिमाओं का पूजन करने से तथा उनके दर्शन आदि करने से भगवान् में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है ।

वैसे ही अव्यक्त संस्कार बनते हैं, जिसकी चिंतना करता है, वही हो जाता है जिसे निरंतर देखता रहता है, उसी की ओर आकर्षित हो जाता है। निरंतर जिसका सेवन करेगा उसी के स्वभाव का मनुष्य हो जायगा। विषयी निरंतर विषयों का चिन्तन करते हैं। मल मूत्र, विष्ठा, लार, खखार, रज वीर्य, रक्त मांस के सहित इस देह का चिन्तन करने से इसी में आसक्ति हो जाती है, इसी के सङ्ग में सुख का अनुभव करता है। मर कर नरकों में इन्हीं वस्तुओं के कुंडों में डाला जाता है। वहाँ स्थूल देह तो होती नहीं सूक्ष्म—यातना देह को कभी मल के कुन्ड में कभी मूत्र के कुन्ड में कभी पीव, रक्त, रज, वीर्य तथा कृमियों के कुन्डों में डालकर ये सब वस्तुएँ उसे पिलाई खिलाई जाती हैं। जो इन हाड़ मांस के शरीरों को न सोचकर भगवान् के दिव्य स्वरूप का चिन्तन करता है, कृष्ण की कमनीय ललित कथाओं को श्रद्धा सहित श्रवण करता है। नंदकिशोर चितचोर के चारु चरित्रों का चिन्तन करता है। प्रभु की परम पावन प्रेममयी पुनीत प्रतिमाओं का पूजन वन्दन अर्चन तथा दर्शन करता है, वह भगवद् भावों से भावित होकर भगवान् के वैकुन्ठ धाम को जाता है, जहाँ आधि नहीं, व्याधि नहीं, चिन्ता नहीं, दुखः नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, शोक नहीं, सन्ताप नहीं, पतन नहीं, क्षय नहीं, माया नहीं, अविद्या नहीं सदा सर्वदा आनंद ही आनंद है जो पुरुष इस मायिक जगत् को मिथ्या मानकर आत्मानुभव करने के लिये समुत्सुक हैं उनके लिये भगवत् कथा श्रवण, गोविंद गुण कर्मों का कीर्तन, उनके चारु चरण कमलों का चिन्तन उनकी प्रतिमाओं का पूजन अर्चन वन्दन आदि साधनों के अतिरिक्त कोई अन्य कर्तव्य नहीं। उन्हें

निरंतर इन्हीं कर्मों में लगे रहना चाहिये।

भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! आत्मानुभव के मैंने पीछे कुछ उपाय बताये अब और बताता हूँ। जो आत्मसाक्षात्कार करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि निरंतर वे नियम से भगवान् की कथाओं को सुना करें। जिनके कानों को भगवत् कथा का रस मिल गया है। जो भगवत् कथा के बिना रह ही नहीं सकते। ऐसे लोगों से असत् कार्य हो ही नहीं सकते। उनकी बात तो जाने दो, एक बार भी जिनके कानों में नाम पड़ गया है महात्माओं के मुख से, उनकी भी दुर्गति नहीं हो सकती।"

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! नित्य प्रति कथा श्रवण से तो संस्कार बनते हैं, किन्तु एक बार प्रसंग वश कथा श्रवण से क्या लाभ हो सकता है?"

इस पर सूतजी बोले—महाभाग! कब कौन सी बात हृदय में चुभ जाय। जीवन भर पुण्य करते हैं, किसी बुरी बात से दुःख से, मन में पाप आ जाता है। देखिये! अजामिल कैसा शान्त, दांत, तपस्वी, सदाचारी ब्राह्मण था। उसका एकान्त में एक वेश्या से समागम हो गया, संस्कार जाग उठे पतित हो गया। इसी प्रकार कभी कभी संतों के यहाँ जाने से शठ भी सुधर जाते हैं दुराचारी भी सदाचारी हो जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

कोई एक नामी चोर था। बहुत सा धन चुरा-चुरा कर अपनी माता को दिया करता था। उसकी माता कहा करती थी। देख बेटा! कथा में कभी मत जाना। यदि कहीं कथा हो रही हो, तो कानों में अँगुली देकर उधर से निकल जाना।" मातृ-भक्त बालक ऐसा ही करता, कभी भी किसी कथा में नहीं जाता।

एक दिन दैव योग से वह कहीं जा रहा था, कि वहाँ कथा हो रही थी, वह नियमानुसार कानों में उगँली देकर निकल रहा था, कि वहीं उसके एक बहुत बड़ा काँटा लग गया काँटा निकालने को ज्यों ही उसने हाथों से पैर पकड़ा, त्यों ही उसके कानों में यह शब्द पड़ गया, कि सदा सत्य बोलना चाहिये। सत्य बोलने से कभी किसी की हानि नहीं होती।" वह बात उसके मन में बैठ गई काँटा निकल गया और वह उठ कर चला गया।

अब तो वह यही सोचने लगा। मैं झूठ क्यों बोलूँ? सत्य का ही आश्रय क्यों न लूँ? सत्य बोलने से हानि भी नहीं होती फिर मैं तो रात्रि में चोरी करता हूँ बोलने का मुझे काम ही नहीं आज से मैं सत्य बोला करूँगा। मन ही मन उसने ऐसी प्रतिज्ञा की और वह सत्य ही शक्ति भर बोलने लगा।

एक दिन वह राजा के यहाँ चोरी करने गया। बहुत सुन्दर मूल्यवान् वस्त्र पहिने हुए था। रात्रि में राजा की ड्याढ़ी पर गया। प्रहरी ने पूछा—"आप कौन हैं? उसने स्पष्ट कह—"हम चोर हैं।" उन्हीं दिनों रानी के भाई आये हुए थे। प्रहरियों ने समझा सम्भव है वे ही हों, चोर ऐसे थोड़े ही कह सकता है। उन्होंने सत्कार पूर्वक रास्ता दे दिया। वह भीतर घुस गया।

राजा देख रहे थे, उन्होंने भी यही समझा रानी का भाई होगा। कुछ बोले नहीं। रानी का एक नौलखाहार टँगा था। उसे लेकर चोर महाशय चम्पत हुए। एक बड़ा सुन्दर घुड़सार से लाल रंग का घोड़ा लिया और उस पर चढ़कर नौ दो ग्यारह हुए जिसने पूछा उसी से कह दिया हम चोर हैं। कुछ काल में रानी आई। उन्होंने हार नहीं देखा। इससे पूछा उससे पूछा। सम्पूर्ण महल में खलबली मच गई। प्रहरियों ने बताया—"अन्नदाता! एक मनुष्य आया तो था, वह अपने को चोर बताता था। हमें उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह लाल घोड़े पर चढ़कर चला गया। राजा ने तत्क्षण बहुत से सवारों को भेजा। चोर एक स्थान में घोड़े को बाँध कर मन्दिर में दर्शनार्थ चला गया। राजसेवक वहाँ जा पहुँचे। देखा, घोड़ा तो वही है, किन्तु उसका रंग सफेद हो गया है। सेवक कुछ निर्णय न कर सके। कुछ काल में चोर लौटा। उससे राज सेवकों ने पूछा—"आप कौन हैं? उसने कहा—"हम चोर हैं?"

सेवकों ने फिर पूछा—"आप यह घोड़ा कहाँ से लाये?"

चोर ने कहा—"राजा के यहाँ से चुराकर लाये हैं?"

सेवकों ने पूछा—"घोड़ा ही चुरा कर लाये हैं या और भी कुछ लाये हैं?"

चोर ने कहा—"नहीं, हम एक हार भी चुरा कर लाये हैं।

तब सेवकों ने कहा—"हमारे यहाँ का घोड़ा तो लाल था। इसके और सब लक्षण तो वैसे ही हैं इसका रंग सफेद है।"

चोर ने कहा—"मैं लाया था, तब भी इसका रंग लाल ही थी अब पता नहीं सफेद क्यों हो गया।"

राजसेवकों पर उसकी इन स्पष्ट और सत्य बातों का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे विनीत भाव से बोले—आप हमारे साथ राजा के समीप चलें।"

उसे राजकर्मचारियों ने राजा के समीप उपस्थित किया। राजा के पूछने पर भी उसने सभी सच सच बातें कह दीं। उसकी ऐसी निष्ठा और सत्य प्रियता को देखकर राजा ने पूछा—"महाभाग! आप में यह नैतिक बल किस साधन से आया।"

उसने कहा—"राजन्! यह प्रसङ्गवश एक बार अनिच्छा से कथा श्रवण करने का फल है। मेरी माँ मुझे कथा सुनने के लिये मना किया करती थी। एक बार दैववशात् काँटा लगने से कथा में सत्य की महिमा मेरे कानों के द्वारा हृदय में चली गई। हृदय में न जाती, इस कान से सुनकर उस कान से निकल जाती, तब तो कोई बात नहीं थी। उसने मेरे हृदय में घर कर लिया। उसी दिन से मैंने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा की। महाराज! सत्य का जब इतना प्रभाव है, कि लाल रंग का घोड़ा सफेद हो सकता है, तो फिर कोइ कारण नहीं कि मेरा काला हृदय स्वच्छ न हो सके। सत्य की बड़ी महिमा है कथा श्रवण कभी व्यर्थ नहीं जाती।"

उस चोर की ऐसी निष्ठा देखकर राजा उसके पैरों में पड़ गये और कहने लगे—"महाभाग! तुम ही धन्य हो तुम्हारा ही कथा सुनना सार्थक है। अब तुम चोरी के काम को छोड़ दो हम तुम दोनों मिल कर यहीं भगवान् की कथा नित्य नियम से सुना करें। उस दिन से दोनों ही नियम से भगवान् की

कथा सुनने लगे और निरन्तर भगवत् स्मृति में ही अपना समय व्यतीत करने लगे। सो महाराज! जब अकस्मात् कथा का एक शब्द कान में पड़ने से यह फल हुआ, तो जो नित्य कथा सुनते हैं, उनका तो कहना ही क्या ?"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! उस चोर पर तो कथा के एक शब्द का ही इतना प्रभाव पड़ा और हम देखते हैं बहुत से लोग नित्य कथा सुनते हैं इनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस विषय में हमने एक कहानी सुनी है आप कहो तो हम उसे भी सुना दें।

सूतजी ने कहा —"हाँ, महाराज सुनाइये।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! एक नगर में एक सेठ जी रहते थे। अच्छे थे विचारे धर्मात्मा। जैसे सेठ लोग भगत होते हैं। वैसे भगत थे। सब लोग उन्हें भगतजी भगतजी कहा करते थे। वे अन्न का व्यापार करते थे। नित्य कथा सुनने मन्दिर में जाते थे। एक दिन अपने लड़के को भी कथा सुनने साथ ले गये। बालकों की बुद्धि शुद्ध होती है उसमें छल कपट नहीं होता, जो सुनते हैं उसे तत्क्षण करने को उत्सुक रहते हैं। उस दिन कथा में निकला कि गौ यदि पानी पी रही हो,या कुछ खा रही हो तो उसे हटाना न चाहिये।" लड़के ने यह बात हृदय में धारण कर ली। दूसरे दिन लड़का दुकान पर बैठा था इतने में ही एक गौ आई और दुकान में रखे अन्न को खाने लगी। लड़के ने उसे हटाया नहीं। इतने में ही भगत जी आ गये। देखते ही चौंक पड़े। लड़के पर बहुत बिगड़े और बोले—"गौ न जाने कितनी देर से अन्न खा रही है, तूने इसे हटाया नहीं।"

लड़के ने कहा—"पिताजी! कथा में तो कल निकला था। खाती हुई गौ को न हटाना चाहिये।"

अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेठजी बोले—"तेरी ऐसी तैसी, कथा की ऐसी तैसी। अरे मूर्ख, कथा की बात को दुकान पर लाने का क्या काम? जो सुना पंडितजी को वहीं उसी समय सौंप आओ। पंडित जी की कथा पंडितजी के सिर पर। सो, सूतजी! वह सेठ तो नित्य कथा सुनते थे, उनपर प्रभाव क्यों नहीं पड़ा?"

यह सुनकर सूतजी गंभीर हो गये और बोले—"महाभाग! कथा श्रवण कभी व्यर्थ तो होता नहीं। यह दूसरी बात है, किसी के हृदय पर उसका तत्क्षण प्रभाव होता है, किसी के हृदय पर देर में और किसी का तो केवल संस्कार मात्र शेष रहता है उसका प्रभाव इस जन्म में न होकर दूसरे जन्मों में होता है। कथा का प्रभाव विशेष कर श्रोता की योग्यता के ऊपर निर्भर है। उसके हृदय में कितनी उत्सुकता है, कितनी जिज्ञासा है कितनी दृढ़ता है। श्रोता के साथ वक्ता का भी प्रभाव होता है। वक्ता यदि निर्लोभ और सदाचारी होगा तो उसकी कथा भी सारगर्भित होगी और यदि वक्ता टका-पंथी है। केवल पण के लोभ से पुस्तक दबाये घर घर कथा कहता फिरता है, कथा के शब्दों पर दृष्टि न रखकर उसकी दृष्टि सर्वदा पैसे पर ही रहती है तो ऐसी सारहीन कथा का विशेष प्रभाव भी नहीं पड़ता। आपने तो सेठ जी का दृष्टान्त सुनाया। कहिये तो मैं पंडित जी का दृष्टान्त सुनाऊँ!"

शौनक जी ने कहा—"हाँ सूतजी! सुनाइये। आप का तो काम ही है, कथा में दृष्टान्त सुनाने का।

सूत जी बोले—"महाराज ! एक पंडित जी थे। और घर घर से जा जाकर सोधा लाते थे, तथा कथा सुनाया करते थे। दशमी को वे अपने घर में बेंगन रख गये और स्त्री से कह गये कल बहुत सुन्दर मसाले भरके वैंगन बनाना स्त्री ने एकादशी के दिन सुन्दर बैंगन बनाये परामठे बनाये फिर सोचा —"चलूँ मैं भी कथा सुन आऊँ। वह भी भोजन रखकर कथा सुनने गई। कथा में निकला एकादशी के दिन जिसके पेट में एक भी वैंगन का बीज रह जाता है। वह उतने ही हजार वर्ष नरक में जाता है।" यह सुनकर पंडितानी बड़ी डरी और आकर उसने सभी बने बनाये वैंगनों को फेंक दिया।

कथा से निवृत होकर पंडितजी आये। स्त्री ने परामठे आगे रख दिये। पंडित जी ने पूछा—"क्यों आज साग नहीं बनाया क्या ?"

पंडितानी ने कहा—"अजी, बनाया तो था, बैंगन का साग सो आकर मैंने सब फेंक दिया।"

पंडित जी ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्यों, क्यों, फेंक क्यों दिया ? क्या बात हो गई ?"

पंडितानी ने कहा—"बात क्या हो गई, आप ही तो कथा में कह रहे थे कि एकादशी के दिन जितने बैंगन के बीज पेट में रह जाँय, उतने हजार वर्ष नरक में रहना पड़ता है। सो इन

बैंगनों में तो हजारों बीज होते हैं इसीलिये फेंक दिये।"

यह सुनकर पंडित जी हँस पड़े और बोले—"अरे तू भी बड़ी भोली लुगाई है। अरे, वे कथा के बैंगन दूसरे होते हैं, घर के बैंगन दूसरे हैं। कथा के कथा में रह जाते हैं।"

पंडितानी ने कहा—"अब महाराज! तुम ही जानो कथा वाचकों के दाव पेंच। बैंगन तो मैंने दो कभी नहीं सुने। हाँ यह कहो हाथी के दाँत खाने को और होते हैं, दिखाने को और होते हैं। मैं तो खाने की नहीं। तुम खाओ तो लाओ फिर बना दूँ।"

सूत जी कहते हैं—"सो, मुनियो! ऐसी सारहीन कथा कहने वाले वक्ताओं का कभी श्रोताओं पर प्रभाव नहीं पड़ता और जो हृदय में स्वार्थ ही रखकर कथा में बैठे हैं ऐसे कपटी श्रोताओं पर भी कथा का जितना प्रभाव होना चाहिये उतना प्रभाव नहीं होता। फिर भी अकरणात् मंद करण श्रेष्ठ माना गया है। कुछ न करने से कुछ करना श्रेष्ठ है। मन न लगे तो भी कथा में बैठना चाहिये। कुछ न कुछ संस्कार बनेंगे ही। कोई न कोई अच्छी बात कान में पड़ेगी ही। यदि योग्य विद्वान संशयछेत्ता कथा वाचक न हो, तो जैसा मिले तैसे से ही भगवान् के चरित्र सुनने चाहिये। भगवत् चरित्र तो जैसे भी सुने जायें तैसे ही कल्याण कारी हैं। अतः भगवत् कथाओं को श्रद्धा पूर्वक सुनना आत्मानुभव का सर्वश्रेष्ठ सर्वोपयोगी सुलभ साधन है। कथा श्रवण में श्रद्धा का प्रधान

स्थान है बिना श्रद्धा के सुनेगा तो उतना लाभ न होगा।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! सब श्रोताओं पर कथा का एक सा प्रभाव क्यों नहीं पड़ता। किसी किसी को तो कथा से बड़ा लाभ होता है और कोई कोई तो और गिरते हुए भी देखे गये हैं।"

यह सुनकर सूतजी ने उत्तर दिया—"महाराज ! यह तो अधिकार भेद से होता है। कथा का जैसा अधिकारी श्रोता होगा, उसपर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। श्रोता पांच प्रकार के होते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पाँच प्रकार के कौन कौन से।

सूतजी बोले—"महाराज ! एक तगुआ श्रोता, एक भकुआ श्रोता, एक सूप श्रोता, एक चलनी श्रोता और एक कोरसकार श्रोता।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इनकी व्याख्या और कीजिये हाँ तो तकुआ श्रोता कौन होते हैं ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! जैसे चरखे पर सूत कातते हैं तो अच्छा बुरा, मोटा, पतला, निर्मल, मैला जैसा भी सूत तकुए पर लपेटते जाओ वह अपने में लपेटता रहेगा। मना नहीं करेगा। ऐसे ही जो कथा में जो भी अच्छी बुरी बात आई, याद कर लेते हैं वे तकुआ श्रोता कहाते हैं।

शौनकजी ने कहा—"भकुआ श्रोता कैसे होते हैं सूतजी !

सूतजी बोले—"महाराज ! जो कथावाचक की ओर झकर झकर देखता रहे, जो अपने प्रयोजन की बात आवे उसे तो ग्रहण करले और इधर की बातों का ओर ध्यान न दे। जैसे कथा में निकला—"श्राद्ध में विस्तार न करना चाहिये" तो जो पहले १०।२० ब्राह्मण जिमाते थे, एक दो ही जिमाने लगे। इस बात पर ध्यान ही न दिया कि कथा में यह भी निकला था कि श्राद्ध के दिन यथेष्ट बन्धुबान्धवों को भोजन कराना चाहिये।" ऐसे लोग कथा से पारमार्थिक लाभ उठाने नहीं जाते दूसरों की आलोचना करने, खंडन करने, स्वार्थ साधने जाते हैं।"

फिर शौनक जी ने पूछा—"अच्छा, चलनी श्रोता कैसे होते हैं।

सूतजी बोले—"महाराज ! जैसे चलनी में आटा छानें तो अच्छे २ को तो नीचे निकाल देगी और बुरे बुरे को धारण किये रहेगी। इसी प्रकार कथा में जो बुरी बातें हों उन्हें तो ग्रहण करना, अच्छी को छोड़ देना। अमुक कथा में निकला था मांस भक्षण में कोई दोष नहीं। अमुक में था कि सुरापान स्वाभाविक है। इन्हें तो ग्रहण कर लेंगे। और इनके सम्बन्ध के निषेध वाक्यों की ओर ध्यान भी न देंगे। ऐसे लोग चलनी के समान श्रोता कहलाते हैं।

कुछ ठहर कर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सूप श्रोता कौन से होते हैं?"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन् ! जैसे सूप बुरी बुरी वस्तुओं को—कूड़े करकट को—निकाल देता है अच्छे २ अन्न को

छाँटकर—शुद्ध करके अपने में रखता है। इसी प्रकार जो 'हंस नीर क्षीर' विवेक सिद्धान्त के द्वारा भगवत् भक्ति प्रभु-प्रेम की जो अतिमधुर सरस बातें हों उन्हें तो धारण करे और इधर उधर की काम अर्थ सम्बन्धी बातों की और विशेष ध्यान न दें वे सूप श्रोता कहलाते हैं। ऐसे ही श्रोता धन्य हैं वे ही श्रद्धा पूर्वक कथा श्रवण करें तो उन्हें कथा स अत्यधिक लाभ होगा।"

शौनकजी ने फिर पूछा—"सूतजी! आपने एक पाँचवें कोरमकार श्रोता भी तो बताये थे, उनका क्या लक्षण है?"

अपनी हँसी को रोकते हुए सूत जी बोले—"अब महाराज कोरमकार का लक्षण क्या बताऊँ। यों ही समझ लें कि कथा में किसी कारण से गये, किसी भीत के सहारे बैठ गये। जहाँ "नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम्" का मंगलाचरण हुआ वहीं वो सोये कि अंत में ही उठे। जैसे कोरे घर से गये थे वैसे कोरमकार घर लौटे।

सुनिये एक कोरमकार श्रोता का दृष्टान्त। ऐसे ही एक श्रोता किसी के संकोचवश कथा में गये। श्रीमद्भागवत के दशम्-स्कन्द की रासलीला की अति मधुर कथा होती थी। कथा वाचक का कंठ अत्यन्त ही मधुर और सुरीला था। किन्तु जिनके पाप उदय होते हैं उन्हें ऐसी मधुर कथा में, निद्रा आ ही जाती है, वे भी भीत के सहारे जो बैठे सो खुर्राटे लेने लगे।

महाराज ! बहुत लोगों का सोते समय मुँह फट जाता है उनका भी मुँह फट रहा था। अन्य श्रोता कथा श्रवण में तल्लीन थे। बीच-बीच में बड़ी बड़ी शंकायें होतीं। कथा वाचक उनका निवारण करते। उनके मुख से शंकाओं का समाधान सुनकर सभी साधु-साधु कहने लगते। इतने में ही वहाँ एक श्वान देवता आ गये। उन्हें बड़ी तो नहीं कुछ लघुशंका मालूम हुई। जो कोरम-कार श्रोता मुँह फाड़े सो रहे थे, टाँग उठाकर श्वान भगवान् ने उनके मुँह में अपनी लघुशंका करदी। इतने में ही कथा समाप्त हुई "अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरिम्" सब कहने लगे। एक साथ सब श्रोताओं की वाणी सुनकर बिना समाधान कराये ही श्वान देवता भागे। भागते समय उनकी लघुशंका उन श्रोता के वस्त्रों पर भी पड़ गई। सब लोग कहने लगे—"धन्य है, आज कथा क्या हुई, अमृत की वर्षा हुई। कोलाहल सुनकर कोरमकार श्रोता की भी नींद खुली। अमृत की वर्षा की बात सुनकर वे बोले--"हाँ अमृत की वर्षा तो अवश्य हुई। किन्तु अमृत कुछ खारा खारा सा था। एक सज्जन देख रहे थे, वे हँसते हँसते लौट पोट हो गये और बोले—"जो कथा में आकर सोवेंगे, उन्हें ऐसा ही खारा अमृत पीने को यहाँ और वहाँ परलोक में भी मिलेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कथा में जाकर सोना, चिल्लाना, बातें करना यह बड़ा पाप है। कथा में जाय पहिले श्रद्धा सहित भगवान्को, कथा वाचक व्यासको, पुस्तक,को तथा सब श्रोताओं को प्रणाम करे, यथा योग स्थान पर चुपचाप नम्रता पूर्वक बैठ जाय। अपनी दृष्टि वक्ता की ही ओर रखे। इधर उधर अन्य पुरुषों और स्त्रियों की ओर न देखे। इस प्रकार जो श्रद्धा सहित समझ कर कथा सुनते हैं उन्हें अति शीघ्र लाभ होता है, यों कैसे

भी आकर कथा में बैठे कोई न कोई अच्छी बात कान में पड़ेगी ही।

जिस प्रकार कथा श्रवण सुन्दर साधन है उसी प्रकार प्रभु के गुण और कर्मों का कीर्तन करना भी श्रेष्ठ साधन है। भगवान् ने कैसे कैसे कर्म किये। श्रीकृष्णावतार में कैसी-कैसी अद्भुत लीलायें की। रामावतार में किस प्रकार असुरों का संहार करके सुरों को सुख पहुँचाया। भगवान् कैसे भक्तवत्सल दीनबन्धु, अशरण शरण, प्रणत प्रति पालक, शरणागतवत्सल तथा आरत हर हैं। इस प्रकार के जिन पदों में भगवान् के गुण और कर्मों का वर्णन हो, ऐसे पदों को गावें ऐसे चरित्रों को पढ़ें यह भी भक्ति के बढ़ाने का आत्मानुभव का प्रधान साधन है। प्रह्लादजी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—"यदि तुम आत्मानुभव करना चाहते हो, तो भगवान् के गुण कर्म तथा नामों का निरन्तर कीर्तन किया करो। अभी मैं तुमसे कीर्तन कराऊँगा। कुछ मुख्य मुख्य साधनों को और बताता हूँ।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"कोई ऐसा सरल साधन बताइये, कि जिसमें मन स्वभाव से ही रम जाय।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"भाई, इतने साधन तो बताये। मुख्य उद्देश्य है, भगवान् के चरण कमलों का चिन्तन करना। इन सब के लिये भगवान् की प्रतिमाओं का प्रेम पूर्वक कथा लब्धोंपचारों से पूजन करना, श्रद्धा सहित दर्शन करना यह सर्वोपरि साधन हैं।

असुर बालकों ने कहा—"भगवान् की प्रतिमाओं का कैसे पूजन करें?"

इस पर प्रह्लाद जी ने कहा—"यह तो बहुत बड़ा क्रियायोग का अगाध विषय है। पाञ्चरात्र आदि तन्त्र शास्त्रों में

पूजा के अनन्त प्रकार हैं। जिसे जो अनुकूल पड़े। जो पद्धति जिसकी वंश परम्परा से चली आती हो, जो जिस सम्प्रदाय के हों उसी के अनुसार श्रद्धा सहित प्रभु के अर्चा विग्रह की सेवा पूजा करे। सेवा के ३२ उपचार षोडशोपचार, पञ्चोपचार आदि अनेक उपचार हैं। अपनी जैसी शक्ति हो, जैसी सामर्थ्य हो, जितनी पूजा सामग्री उपलब्ध हो सकती हो वैसे ही पूजा करे। जिस मूर्ति की मंत्रों द्वारा विधिवत् प्रतिष्ठा हो गई हो, उसी की पूजा करे या मृत्तिका चित्र में प्रतिभा बनाकर उसमें देवता का आवाहन करके पूजन करे। पूजा के अन्त में विसर्जन कर दो। अचल स्थिर प्रतिमाओं में आवाहन विसर्जन होता भी है नहीं। सबसे सरल पूजन तो है शालग्राम भगवान् का। इसमें न प्रतिष्ठा का झंझट न चल अचल का भेद। आवाहन विसर्जन को भी आवश्यकता नहीं। पुरुष सूक्त से एक एक मन्त्र पढ़कर आवाहन, आसन, पाद्य-अर्घ्य, आचमनीय, स्नान पंचामृत स्नान, यज्ञोपवीत, वस्त्र, धूप, दीपनैवेद्य, ताम्बूल, पूँगीफल, दक्षिणा, नीराजन, प्रदक्षिणा, नमस्कार तथा स्तुति आदि सभी करे। यदि यह सब न हो तो पौराणिक तांत्रिक मन्त्रों से करे। वे भी याद न हों तो मूल मन्त्र, गुरु मन्त्र से ही स्नान, चन्दन, धूप, दीप, पुष्प नैवेद्य से पञ्चोपचार पूजा कर दे। कुछ न बने जल से स्नान करा दो। जो भगवान् दें उसे भोग लगाकर प्रसाद पा ले। धोकर पी लिया, दिखाकर खा लिया। इससे बढ़कर सरल और किस

देव की पूजा होगी। पूजा में मुख्य वस्तु है श्रद्धा। भगवान् हमारी पूजा के भूखे तो हैं नहीं। उन्हें गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य की कमी तो है नहीं। पूजा उनके लिये नहीं है, अपनी आत्म-तुष्टि के लिये सद्भावना वृद्धि के लिये है। जनार्दन तो भाव ग्राही हैं। यदि तुम पूजा प्रतिमा को पत्थर मानते हो, तो वह पत्थर का ही फल देगी, उसमें सच्चिदानन्द भाव से पूजा करोगे, तो स्वयं साक्षात् सच्चिदानन्द उसी में से प्रकट हो जायँगे, क्योंकि भगवान् तो सभी में समान रूप से रम रहे हैं। जहाँ भी भक्त का अनन्य प्रेम देखते हैं वहीं प्रकट हो जाते हैं। जो उन्हें जिस भाव से भजते हैं वे उसी भाव से दर्शन देते हैं। भगवान् वस्तु के भूखे नहीं हैं भाव के भूखे हैं। अतः प्रतिमा पूजन में प्रधान वस्तु है भावना।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भावना कैसे करें। जड़ पत्थर में चैतन्य की भावना होनी अत्यन्त कठिन है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ये सब कर्मकांड क्रिया कलाप भावना के ही लिये तो हैं। मन्त्रों द्वारा भावना, शास्त्र वाक्यों पर विश्वास रखकर भावना करना गुरु वचनों में भावना अपने आप प्रेम उमड़ पड़े उससे भावना करना। इन्हीं सत्र पर विश्वास करने से भावना दृढ़ होती है यदि आपकी प्रतिमा में चैतन्य की भावना नहीं तो आपकी पूजा उपचार मात्र है। यदि शुद्ध भावना है तो आप चाहें अविधि

से ही पूजा करें भगवान् प्रसन्न हो जायँगे ऐसे भावना के इस कलिकाल में अनेकों दृष्टान्त हैं।

एक पुजारी बड़े सरल थे। नित्य भगवान् की बड़े प्रेम से पूजा करते थे। सांयकाल को राजा नित्य दर्शनों को आते उन्हें भगवान् का प्रसादी हार प्रसाद में देते। एक दिन रात्रि में बहुत देर हो गई। पुजारीजी ने समझा आज राजा न आवेंगे। भगवान् की प्रसादी हार स्वयं पहिन लिया और शयन का प्रबन्ध करने लगे। इतने में ही राजा के आने की सूचना मिली शीघ्रता में हड़बड़ाहट में उन्होंने तुरन्त प्रसादी हार उतार कर भगवान् को पहिना दिया और खड़े हो गये। राजा आये। दर्शन किया पंचामृत प्रसाद लिया। पुजारीजी ने हार उतार कर राजा को दिया। पुजारीजी के बड़े-बड़े सफेद बाल थे। शीघ्रता में उतारने के कारण एक दो बाल हार में लग गये। संयोग की बात राजा की दृष्टि इन सफेद बालों पर पड़ गई। राजा ही जो ठहरे आ गया क्रोध। ऊपर से हँसते हुए बोले—"क्यों पुजारीजी! भगवान् बूढ़े हो गये क्या? यह बाल कैसे लगा है हार में?"

पुजारीजी तो सकपका गये बोले—"अब महाराज! जो कुछ हो बूढ़े तो हो ही गये होंगे?"

राजा ने क्रोध के स्वर में कहा—"अच्छा, तो कल दिखाना नहीं तुम्हारी कुशल नहीं। तुम्हें कड़े से कड़ा दण्ड दिया जायगा।"

पुजारी तो कुछ निर्णय ही न कर सके। अत्यन्त भयभीत हो गये थे। सहसा उनके मुख से निकल गया "भगवान् की जैसी इच्छा होगी वही होगा।" राजा इतना कहकर चले गये अब पुजारी को शांति कहाँ। वे बड़े विह्वल हुए। रात्रि भर उन्हें निद्रा नहीं आई। भगवान् पाषाण की प्रतिमा हैं यह भाव उसका रहा ही नहीं। प्रातःकाल हुआ रो-रो कर उसने पूजा प्रारम्भ की। प्रति पल वह रोम-रोम से भगवान् से यही प्रार्थना कर रहा था—"प्रभो ! आज मेरी लाज बचाओ। आज अपना भक्त वत्सल, करुणा सागर नाम सार्थक करो। तुम्हारा होकर मैं वधिकों द्वारा फाँसी पर न चढ़ाया जाऊँ। मैं कैसा भी हूँ अच्छा बुरा तुम्हारा ही हूँ। सब तुम्हारा पुजारी कहते हैं।" भगवान् तो घट-घट की जानने वाले हैं। भगवत् प्रतिमा में से शब्द हुआ—"तुम चिन्ता मत करो" पुजारी को धैर्य हुआ। नेत्रों से प्रेम के अश्रु बहने लगे। सायंकालीन आरती करके जब दर्शक चले गये, तब पुजारी ने भगवान् के श्री विग्रह की ओर जो देखा, तो उनके किरीटि मुकुट के नीचे लटकते हुए बड़े-बड़े शुभ्र बाल और सफेद हंस के पंखों के समान दाढ़ी फहरा रही है। भक्त के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। इतने में ही राजा दर्शनों को आ गये, आज वे बड़े गम्भीर थे। दर्शन किये पुजारी ने उल्लास के साथ प्रसाद चरणामृत दिया, प्रसादी हार दिया। राजा ने पूछा—"कहिये पुजारीजी ! भगवान् बूढ़े हो गये हैं क्या ?"

विनीत भाव से पुजारी ने कहा—"प्रभो! प्रत्यक्ष में क्या प्रमाण, आप दर्शन नहीं कर रहे हैं क्या?"

राजाने हँसकर कहा—"ये दाढ़ी जटा कहाँ से मोल लाकर चिपका दी हैं?"

पुजारी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"महाराज! मैंने काहे को चिपकाई हैं ये तो भगवान् के स्वतः ही उत्पन्न हुई हैं?"

राजा ने शासन के स्वर में कहा—"न उत्पन्न हुई हो तो?"

दृढ़ता के स्वर में पुजारी ने कहा—"न उत्पन्न हुई हों तो अन्नदाता! जो काले चोर को दंड दिया जाता है वह मुझे दिया जाय।"

राजा पुजारी की दृढ़ता को देखकर अवाक रह गये आवेश में भरकर उन्होंने भगवान् की दाढ़ी के दो तीन बाल बल पूर्वक खींचे। बाल खींचते ही उखड़ आये और वहाँ से रक्त की धारा बहने लगी। राजा की तो सब सिटिल्ली भूल गई। हक्के बक्के होकर मन्दिर में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। अपने अपराध की बार २ क्षमा मांगी।

भगवान् की आज्ञा हुई। आज जाओ यह अपराध तो तुम्हारा क्षमा किया गया, किन्तु आज से कोई भी तुम्हारे वंश का राजा राजगद्दी पर बैठकर मेरे दर्शन को न आवे।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! वह मन्दिर अब भी विद्यमान है। उस राज्य के राजा जब तक गद्दी पर नहीं बैठते युवराज

रहते हैं, तब तक दर्शनों को आते हैं। जहाँ गद्दी पर बैठे तहाँ दर्शनों को नहीं आते इसीलिए कहा है साधु सन्तों के दर्शनों को भगवान् के दर्शनों को मान मद अहंकार को छोड़ कर जाना चाहिये। महाभाग! जब तक मूर्ति घास की दीखती है, तब तक उसमें से प्रभु प्रकट नहीं होते। जब भगवत् प्रतिमा सजीव और चैतन्य अनुभव होने लगती है तब उसमें से प्रभु तुरन्त सजीव होकर प्रकट हो जाते हैं इस विषय में एक बड़ा ही मनोरंजक दृष्टान्त है सुनिये।

एक व्यक्ति ने किन्हीं महात्मा से कहा—"महाराज, हमें किसो ऐसे देवता का पूजन बतावें जिनके पूजन से शीघ्र सिद्धि हो। साधु ने एक सुन्दर भगवान् की मूर्ति दी और कहा—"तुम इनका नित्य नियम से पूजन करना। भक्ति भाव से पूजन करोगे, तो ये शीघ्र तुम्हें दर्शन देकर तुम्हारी सभी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे।" मनुष्य भोला भाला शुद्ध अन्तः करण का था। बहुत वर्षों तक पूजा करता रहा किन्तु उसे भगवान् के साक्षात् दर्शन नहीं हुए। अब तो उसे भगवान् पर क्रोध आने लगा—"देखो, मैं इनकी कितनी लगन से पूजा करता हूँ, ये मुझ पर प्रसन्न नहीं होते!" क्रोध के कारण अब उसकी आस्था पूजन से हट गई किसी दूसरे साधु के पास गया और अपना सब दुख सुनाकर कहने लगा—"इतने दिन से मैं भगवान् का पूजन कर रहा हूँ, मुझे कोई लाभ नहीं होता।"

साधु ने कहा—"तुम किनका पूजन करते हो?

उसने बताया—" मैं विष्णु भगवान् की चतुर्भुजी मुर्ति का पूजन करता हूँ।"

वे साधु शैव थे, अतः बोले—"अरे भैया! विष्णु का क्या पता कब प्रसन्न हों। वे तो क्षीर सागर में सोते ही रहते हैं। शेष के गुद गुदे गद्दे पर उन्हें ऐसी गहरी नींद आती है, कि माता लक्ष्मी जी पैर सुहलाती रहती हैं, उनकी ओर भी नहीं देखते। शिव ज़ी की पूजा किया करो शिवजी आशुतोष हैं वे केवल पानी चढ़ाने और गाल बजाने से ही प्रसन्न हो जाते हैं।" यह कह कर उन्होंने एक शिव लिङ्ग प्रदान की और कहा—नित्य नियम से पूजन करना।"

उसे तो भगवान् पर क्रोध आ ही रहा था उसने क्रोध करके भगवान् की प्रतिमा को ऊपर उठा कर दीवाल में रख दिया और वहाँ शिव लिङ्ग स्थापित करदी। बड़े प्रेम से उनकी भी पूजा करने लगा। एक दिन वह कहीं से बड़ी सुन्दर कस्तूरी मिश्रित सुगन्धित धूप की बत्ती लाया। शिवजी के सम्मुख उसे जलाया। उसका धूँआ सीधा जा रहा था, जहाँ ऊपर भगवान् की मूर्ति रखी थी। अब तो उसे बड़ा क्रोध आया यह ठाकुर बड़ा स्वार्थी है, देखो, हमें दर्शन भी नहीं देता और ऊपर बैठा बैठा शिव जी की धूप को सूंघता रहता है।" यह सोच कर वह रूई लेकर भगवान् की नाक में पूरी शक्ति से ठूँसने लगा। बस फिर क्या था भगवान् उसके भोलेपन पर हँस पड़े और बोले—"मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, तू जो चाहे वर माँग ले।"

उस आदमी ने आश्चर्यसे पूछा—"महाराज! यह तो आपको प्रसन्न करने का बड़ा सुन्दर सरल साधन निकला। मुझे बात पहिले से विदित होती तो मैं पूजा में इतना श्रम क्यों करता? पहिले से ही नाक में रूई ठूँसता।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"भैया! न मैं रुई ठूँसने से प्रसन्न होता हूँ, न पूजा से। मैं तो भाव का भूखा हूँ। निष्ठा से प्रसन्न होता हूँ। अब तक तेरी भावना थी, यह पपथ धातमयी प्रतिमा है, तो मैं धातु मय ही वना रहा अब तेरी दृढ़ धारण हो गई, कि यह चैतन्य हैं और गंध को सूँघते हैं तो मैं प्रकट हो गया।"

सूतजी कहते मैं—"मुनियो! इसी प्रकार भगवद् अर्चा साक्षात् सच्चिदानन्द भगवान् की बुद्धि रख कर जो पूजा की जाती है, उससे प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं। इन्हीं सब उपायों को असुर बालकों को बताते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—हे दैत्य कुमारो! आत्मानुभव के सहस्रों उपायों में से गुरु सेवा सर्वापण, साधु संग हरि उपासना, कथा श्रवण, प्रभु नामागुण कर्मकीर्तन, चरणचिन्तन, अर्चा, पूजन, दर्शन आदि उपायों को मैंने तुम्हारे सम्मुख वर्णन किया अब तुम लोग और क्या सुनना चाहते हो?"

इस पर दैत्य बालकों ने कहा—"भैया! हम यह जानना चाहते हैं कि इन साधनों के करने से होता क्या है?

प्रह्लाद जी ने कहा—"इन सब साधनों को करते करते भगवान् में स्वाभाविक रति होती है।

इस पर दैत्य बालक बोले—"भैया! तू बार बार रति रति कहता है। रति का अभिप्राय क्या? भगवान् में रति होने से मनुष्य की कैसी दशा होती है कृपा करके इन बातों को हमें और बता दे।"

असुर बालकों के ऐसा कहने पर प्रह्लाद जी ने कहा—

"अच्छी बात है, अब मैं आप सब को भगवत् रति के सम्बन्ध में बताऊँगा। तथा भगवान् के प्रेम में अनुरक्त हुए भक्तों के भी लक्षण बताऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! साधन बता कर अब प्रह्लाद जी मेरे बताये हुये उपदेश को स्मरण करके भगवान् में जैसे अनन्य प्रीति होती है और अनन्य प्रीति वाले भक्तों की जैसी अलौकिक दशा हो जाती है, उसका वर्णन करने को उद्यत हुए।

छप्पय

अर्चा महँ अति प्रेम नेम तें पूजें नित हरि।
सबरीं सेवा करें इष्ट कूँ सदा हिये धरि॥
दिव्य देश महँ जायँ भक्ति तें भगवत सेवें।
सिर धरि हरि निरमाल्य विष्णु पादोदक लेवें॥
अरचन पूजन निरखि जे, अतिशय हिये सराहिँगे।
ते सब पापनि ते छुटे, कृष्ण चरन रति पाइँगे॥

प्रभुपाद पद्मों में रति

(४७६)

एवं निर्जित षड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।
वासुदेवे भगवति यथा संलभते रतिम्॥*

(श्रीभा० ७ स्क० अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

इष्ट विषय की प्रीति कहें रति ताकूँ बुध जन।
जामें नितई फँस्यो रहे व्याकुल है के मन॥
कान भनक परि जाय नाम होवे तनु पुलकित।
सुमिरि सुमिरि गुन करम होहिँ अति उत्कंठित चित॥
है अधीर रोवे कबहुँ, गद्‌गद् गिरा गँभीर स्वर।
हँसे कबहुँ पुनि पुनि कहे, गिरधर नटवर ब्रजेश्वर॥

श्रद्धा पूर्वक किये हुए समस्त साधनों का एक मात्र फल यही है, कि श्री कृष्ण चरणारविन्दों में रति हो। श्रद्धा की परिपक्वावस्था का नाम ही रति है और रति ही अंत में भक्ति रूप में परिणित हो जाती है। श्रद्धा से रति और रति से भक्ति

---

*प्रह्लाद जी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—इस प्रकार जो लोग षड्‌रिपुओं को जीत लेते हैं वे ईश्वर में ऐसी भक्ति किया करते हैं जिससे भगवान् वासुदेव में उनकी रति हो जाती है।

यही क्रम है। रति कहलो प्रेम कहलो इसमें कोई अन्तर नहीं है श्रद्धा, रति, प्रेम, भक्ति सामान्यतया एक ही है अवस्था भेद से इनके नामों में भेद है। श्रद्धा प्रायः गुणों के कारण होती है। गुणों के अभाव में श्रद्धा घट भी जाती है। किसी के लेख की, वक्तृता की, कला कौशल की हमने वड़ी ख्याति सुनी। उस पर हमारी श्रद्धा हो गई, किन्तु जब साक्षात्कार हुआ और जैसी हमने कल्पना की थी वैसा उसे न पाया, तो हमारी श्रद्धा हट जाती है। या पहिले तो जो बहुत तपस्वी सदाचारी थे इस कारण हम उनमें श्रद्धा करते थे, पीछे वे वैसे नहीं रहे तो हमारी श्रद्धा भी नहीं रही। श्रद्धा यदि परिपक्व हो जाय, अडिग हो जाय तो उसीका नाम रति है। रति में सम्बन्ध जुड़जाता है। अपनापन हो जाता है। गुण अवगुण की ओर ध्यान ही नहीं जाता। उसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्यक क्रिया प्यारी लगती है। उसके प्रति स्वभाविक अनुराग हो जाता है। उसको चेतन में, स्मरण में, नाम में, संयोग में वियोग में, हास्य में, क्रोध में, प्यार में तिरस्कार में, सत्कार—सभी में एक अनिर्वचनीय आनन्द आ जाता है। जब यह रति पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, इष्ट के अतिरिक्त कोई दिखाई ही नहीं देता, वही भक्ति है वही काष्ठा है वही परा-गति है। इससे आगे कुछ नहीं है। कुछ नहीं है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन् असुर बालकों के पूछने पर प्रह्लाद जी रति के सम्वन्ध में बता रहे हैं। वे बोले—"देखो, भाई! जब तक कोई भवन अशुचि है उसमें चोर वास करते हैं तब तक कोई भला आदमी वहाँ रहने को न जायगा। इसी प्रकार जब तक हमारे मलिन अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये ६ शत्रु विद्य-

मान हैं, तब तक हृदय में प्रेम हो, भगवत् साक्षात्कार हो यह असम्भव है। वस्त्र, जल स्वभावतः स्वच्छ होते हैं, इनमें जैसा रंग चढ़ाओगे उसी रंग के बन जायँगे। जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों से अन्तःकरण में नाना प्रकार की कामनायें भरी पड़ी हैं। जब हमारी इच्छा का विघात होता है, मनोनुकूल काम की प्राप्ति नहीं होती तो क्रोध आता है। पहिले मानसिक क्रोध होता है, फिर वह वाणी से व्यक्त होता है, फिर इन्द्रियों के द्वारा प्रहारादि के द्वारा प्रकट होता है। जैसे अग्नि जिस वस्तु में लगती है, पहिले उसे जलाकर तब दूसरे को जलाती है इसी प्रकार क्रोध जिस अन्तःकरण में उत्पन्न होता है, पहिले उसे जलाता है, तब दूसरों को हानि पहुँचाता है अतः क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है।

संसार में भोग पदार्थ तो परिमित हैं, जीवों की लालसायें अपरिमित हैं। कितनी भी भोगसामग्रियाँ क्यों न मिल जायँ उनसे तृप्ति नहीं होती। जितनी ही वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, उतनी ही अधिक लालसा और भी उत्पन्न होती जाती है। इसी का नाम है लोभ। यह ऐसा घड़ा है कि इसमें कितना भी जल डालते जाओ कभी भरेगा नहीं। संसार के जितने विषय हैं, सभी एक ही मनुष्य को दे दिये जायँ, तो भी उसकी लालसा पूरी न होगी और अधिक पाने की अभिलाषा बनी रहेगी, अतः जब तक हृदय में इन भौतिक पदार्थों के प्रति अत्यधिक ममत्व है। इन्हें अधिक मात्रा में बटोरने और संग्रह करने की इच्छा बनी है तब तक प्रभु प्रेम नहीं हो सकता। जहाँ पैसा ही प्रेम है वहाँ प्रभु प्रेम कैसे हो। मन तो एक ही है उसे चाहे विषयों में लगालो या विष्णु में फँसा लो।

जिन भौतिक पदार्थों में अपना पन है, उसमें जो एक

प्रकार की आसक्ति होती है उसे मोह कहते हैं। मोह में और प्रेम में देखने में कोई विशेष अन्तर नहीं। अन्तर इतना ही है कि मोह सांसारिक नाशवान् वस्तुओं के साथ होता है, वही यदि अविनाशी परात्पर प्रभु के साथ किया जाय, तो प्रेम कहलाता है। विषयों के मोह वाले अन्तःकरण में विश्वेश्वर नहीं विराजते। उन्हें अशुचिता, दुस्संग, प्रिय ही नहीं। वे तो एकाकी स्वच्छ स्थान में रहना चाहते हैं। अतः मोहन का वास वहीं है जहाँ मोह न हो।

सांसारिक वस्तुएँ धन, जन, पद प्रतिष्ठा तथा अन्य ऐश्वर्य प्राप्त होने पर जो एक बड़ेपन का मिथ्याभिमान होता है, उसे मद कहते हैं। मद में आदमी अंधा हो जाता है। गुरु जनों का अपमान तक कर डालता है, न कहने योग्य बातों को कह डालता है, न करने योग्य कार्यों को करता है। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मैंने यह किया वह किया, इसे मारा उसे पछाड़ा इसे पकड़ा उसे जकड़ा इस प्रकार के विचार उसके बने रहते हैं धन मद, विद्यामद, ऐश्वर्यमद, रूपमद, वयमद, जातिमद तथा मदिरा आदि का मद इस प्रकार मदके अनेकों भेद हैं। ये सभी मद मनुष्य को संसार गर्त में गिराने वाले हैं। अतः मदन मोहन को मन में बिठाने की इच्छावालों को मद को दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

दूसरों की उन्नति को देखकर जो अन्तःकरण में एक प्रकार की ईर्ष्या डाह उत्पन्न होती है उसे मत्सर कहते हैं। मत्सरी लोग प्रायः दूसरों को देख कर जला करते हैं। उनका स्वभाव जरैला होता है। वह मुझसे धन में इतना बड़ा क्यों हो गया, उसका चारों ओर इतना नाम क्यों है। उसे इतने लोग क्यों

पूजते हैं। इन्हीं बातों को सोच सोच कर जिसका हृदय जलता रहता हो उसे ही मत्सरी समझना चाहिये।

एक नगर में एक जरैला (मत्सरी) रहता था वह सदा दूसरों की उन्नति देखकर जलता रहता था। दैवयोग से उसी गाँव में कोई सती होने को उद्यत हुई। चारों ओर सती सतीत्व की प्रशंसा फैल गई। दूर दूर से लोग सती के दर्शनों को आने लगे। पति की चिता में बैठने को सती श्रंगार कर रही थी। सभी उसका जय जयकार कर रहे थे। इतने में ही अत्यंत क्रोध में भर कर वह जरैला (ईर्ष्यालु) वहाँ आया और सबको डाँट कर बोला—"तुम लोग क्या सती की प्रशंसा कर रहे हो, आग में कूद कर एक साथ जल जाना यह कौन सी प्रशंसा की बात है। हमें देखो, हम बिना आग के ही सदा जलते रहते हैं। अकारण ही हम हृदय के दाह से जलते रहने पर भी जीवित हैं।"

प्रह्लादजी कहते हैं—"सो, असुर बालको! जब तक मनुष्य दूसरों से ईर्ष्या, डाह, मत्सर करेगा, दूसरों की बढ़ती देखकर जलता रहेगा तब तक मत्स्यादि रूपधारी श्रीहरि उसके अन्तःकरण में प्रकट न होंगे। अतः सब से प्रथम साधन तो यह है, कि गुरु शुश्रूषा, संत समागम आदि उपायों से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर रूप जो ये डाकू हैं, दिन में ही लूटने वाले लुटेरे हैं। इनसे बचना चाहिए। जिसने इन पर विजय प्राप्त करली है, उसकी कथा कीर्तन आदि सत्कर्मों में शनैः शनैः श्रद्धा बढ़ती है वह साधना भक्ति में प्रवृत्त होता है। उसे करते करते प्रभु पादपद्मों में अनन्य प्रीति स्वाभाविकी रति उत्पन्न होती है। फिर उसकी दशा लोकबाह्य हो जाती है।

इस पर असुर बालकों ने पूछा—"लोकवाह्य दशा कैसी होती है?"

प्रह्लादजी ने कहा—साधारणतया हम लोग अपनी प्रकृति में रह कर लोक लाज को सम्मुख रखकर व्यवहार करते हैं। शक्ति-भर कोई ऐसी चेष्टा नहीं करते, जिसे देख कर लोग हँसें उँगली उठावें। समाज में जैसा बोलने चालने, उठने बैठने, खाने पीने का सदाचार है उसका पालन करते हैं। समाज के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करते। अपने वर्ताव से हम अपने को सभ्यसमाज में सभ्य सिद्ध करने को सर्वदा चेष्टा करते हैं। किन्तु जब कृष्ण प्रेम रूप भूत सिर पर सवार हो जाता है, ये सब बातें भूल जाती हैं। मस्तिष्क फिर जाता है। जैसे लोक में जिसके मस्तिष्क में गरमी चढ़ जाती है, पागल हो जाता है, अथवा कोई भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष राक्षस सिर पर चढ़ जाता है, तो मनुष्य अन्ट सन्ट बकने लगता है, बिना सिर पैर बातें करता है। अलौकिक आचरण करता है किसीका शील संकोच नहीं करता, अपनी ही धुनि में सदा मस्त रहता है। जब जो मन में आई वही कर डाला। दूसरे लोग हमारे इस व्यवहार को देखकर क्या कहेंगे, इस बात की वह तनिक भी चिन्ता नहीं करता। उसी का नाम लोक वाह्य है। भगवत् प्रेम के सम्बन्ध में ऐसी दशा बड़े भाग्य से, जन्म जन्मान्तरों से अनन्त शुभ कर्मों के फल स्वरूप भगवत कृपा से ही प्राप्त होती है। अतः काम क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके भगवान् वासुदेव के चरणों में रति हो इसी बात का सतत प्रयत्न करना चाहिए।"

दैत्य बालकों ने कहा—"भैया! इन बातों के सुनने में तो

बड़ा मन लगता है। भगवद् भक्तों की प्रेम दशाओं का और भी वर्णन करो।"

इस पर प्रह्लाद जी बोले—"अच्छी बात है, मैं वर्णन करता हूँ, आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

कबहूँ करे विलाप ध्यान महँ मग्न होहि पुनि।
गावे कबहूँ गान होहि हर्षित हरि गुन सुनि॥
सम्मुख देखे जाइ पैर परि परि के रोये।
कबहूँ नाचे ठुमुकि कबहुँ पृथ्वी पै सोवे॥
लोक लाज संकोच तजि, यों तन्मय है कें रहे।
नारायण हरि जगतपति, राम, कृष्ण, वामन कहे॥

———

भगवद्भक्तों की प्रेम दशायें

(४८०)

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्,
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदम्,
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

लड़खड़ात मग चलैं परैं पग इत उत अनिमित ।
चलत चलत पुनि गिरैं फिरैं उत्कंठित जित तित ॥
रहै प्रेम की ज्योति प्रज्वलित हिये निरन्तर ।
जरैं वासना बीज दिखैं जब श्री राधावर ॥
फँस्यो चित्त चितचोर की, रूप माधुरी में सतत ।
जग बन्धन कटि जात सब, होहिं फेरि जग तैं विरत ॥

रस शास्त्र के आचार्यों ने रति के अनेक भेद बताये हैं। नवों रसों में रति होती है, किन्तु विशेष कर रति का पूर्ण

---

*प्रह्लादजी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—जब मनुष्य अवतारों के लीला विग्रहों द्वारा किये हुए कर्मों को उनके अनुपम गुण और पराक्रम को श्रवण करके अत्यन्त हर्ष के उद्रेक से रोमाञ्चित और गद्गद् कण्ठ होकर उत्कण्ठित होकर उच्च स्वर से गाने रोने और नृत्य करने लगता है, तो उसकी प्रेम की दशा समझनी चाहिए ।

प्रकाश शृंगार में ही व्यक्त होता है। उसके प्रधानतया दो भेद हैं एक सम्भोग रती दूसरी विप्रलम्भया वियोग रति। अपने प्रियतम के साथ सभो प्रकार सुखों का भोग करना इसे समान्यतया सम्भोग रति कहते हैं जैसे:—

रुचि के प्रकाश परस्पर खेलन लागे।
राग-रागिनी अलौकिक उपजत नृत्यत संग अलग लाग लागे
रागही में रंग रह्यौ, रंग के समुद्र में ए दोऊ झागे।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुन्ज विहारी
पै रंग रह्यौ रसही में पागे।

व्रज के रसिकों ने इस विषय के वर्णन में पराकाष्ठा कर दी है। विप्रलम्भ या विरह की समान्यतया अवस्थायें वताई हैं। प्रथम अवस्था का नाम है चक्षुः प्रीति,। नेत्रों में अपने इष्ट प्रियतम की मूर्ति गढ़ जाय। उसका रूप माधुर्य नेत्रों में समा जाय। उदाहरण को लीजिये।

नैना लोभी रे, बहुरि सके नहिं आय।
रोम रोम नखसिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय ॥१॥
मैं ठाढी गृह अपने री, मोहन निकसे आय।
वदन चन्द्र परकासत हेलो, मन्द मन्द मुसुकाय ॥२॥
लोक कुटुम्बी वरजि बरजहीं, बतियाँ कहत बनाय।
चञ्चल निपट अटक नहिं मानत, परहथ गये बिकाय ॥३॥
भली कहौ कोई बुरी कहौं मैं, सब लई शीश चढ़ाय।
मोरा प्रभु गिरधरन लाल बिनु पल भर रह्यौ न जाय ॥

जिसके बिना पल भर भी न रहा जाय, निगौड़े नैंना नेह नीर के सदा प्यासे से बने रहें, समझलो यहाँ रति का उदय हो गया। बरवस नेत्र उधर ही चले जायँ। उसी की खोज में चंचल हो जायँ यह विप्रलम्भ रति की प्रथमावस्था है।

दूसरी अवस्था में निरंतर मन से संग बना रहे। मन में वही मूरत वही सूरत नाचती रहे। मन सदा उसी का चिन्तन करता रहे। उसी की याद में तड़फता रहे उदाहरण लीजिये—

पिया, तैं कहाँ गयौ नेहरा लगाय।
छाँड़ि गयौ अब कहाँ विसासी, प्रेम बाती वराय॥
विरह समुद्र में छाड़ि गयो पिव, नेह की नाव चलाय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, तुम बिनु रह्यो न जाय॥

जिसके बिना रहा ही न जाय, चित्त से जिसकी मूरति उतरे ही नहीं समझो यह विप्रलम्भरति की द्वितीयावस्था है।

तीसरी अवस्था का नाम है स्मरण निरन्तर उसी का स्मरण उसी का चिन्तन। पल पल पर उसी का नाम उसीका रूप स्मरण होता रहे। उदाहरण

म्हारी सुधि ज्यूँ जानों ज्यूँ लीजो जी।
पल पल भीतर पन्थ निहारूँ दर्शन म्हाँ ने दीजो जी॥
मैं तो हूँ बहु औगुण हारी, औगण चित मत दीजो जी।
मैं तो दासी थाँरे चरण कमल की
मिल बिछुरन मत कीजो जी।

मीराँ तो सतगुरुजी शरणे हरि चरणाँ चित दीजो जी ॥

अपने प्रियतम के निरन्तर स्मरण में कैसा सुख अथवा दुख होता है, इसे भुक्त भोगी के अतिरिक्त दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। अतः साधारण लोगों का इस विषय में कुछ कहना अनाधिकार चेष्टा ही समझी जायगी।

विरह की चौथी अवस्था का नाम है 'निद्राभेद' "प्यारे की स्मृति इतनी अधिक रहने लगती है, कि नेत्रों में प्रयत्न करने पर भी नींद नहीं आती। निद्रा प्रियतम के पास चली जाती है और फिर बुलाने पर भी नहीं आती।"

"अस्माकंतु गतेकृष्ण गता निद्रापि वैरिणी" इसका उदाहरण लीजिये—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया के पन्थ निहारते, सब रैन विहानी हो ॥
सखियन मिलकर सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परै, जिय ऐसी ठानी हो ॥
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की, कोई पीर न जानी हो ॥
ज्यों चातक घन कूँ रटै, मछली जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल विरहिणि, सुध बुध विसरानी हो ॥

इस प्रकार दिन और रात्रि एक समान तड़फते, प्रिय को स्मृति में जागकर बितायें जायँ, उसे जागरण अथवा 'निद्रा भेद' कहते हैं।

पाँचवीं अवस्था का नाम है 'तनुता' अथवा कृशता। निद्रा नाश के अनन्तर भोजन की भी इच्छा न रहे। खान पान की न सुधि रहे न आवश्यकता ही प्रतीत हो। शरीर तो पंचभूतों का बना हुआ है। अन्न से ही प्राण प्रबल होते हैं। यदि शरीर को आहार न मिलेगा तो वह दुर्बल, कृश होगा ही। इसीलिये विरही का जहाँ वर्णन किया जाता है, वहाँ उसे अत्यन्त कृश बताया जाता है। किसी विरहिनि को पलंग पर न देखकर किसी ने कहा था—"भाई, बिस्तरे को झाड़ो सम्भव है उसमें कहीं छिपी हो" मानों विरहिनि सूखकर कांटे के समान हो गई। श्री कृष्ण के विरह में व्रज के लोगों की जो दशा हुई थी, उससे बढ़कर कृशता व्याकुलता का उदाहरण और कहाँ मिलेगा। कृष्ण वियोग में व्रजवासियों के शरीर कैसे कृश हो गये इसका उदाहरण लीजिये—

कहाँ लौं कहिए व्रज की बात।
सुनहु स्याम तुम बिनु उन लोगनि जैसे दिवस विहात॥
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत वै, मलिन बदन कृस गात।
परमदान जनु सिसिर हिमीहत, अंबुजगन बिन पात॥
जो कहुँ आवत देख दूर तें सब पूछत कुसलात।
चलन न देत प्रेम—आतुर डर, कर करनन लपटात॥
पिक चातक बन बसन न पावहिँ, वायस बलिनहि खात।
'सूर स्याम' संदेसनि के डर पथिक न वहि मग जात॥

श्री कृष्ण के विरह में गोपी ही कृश नहीं हैं, अपितु गोधन, गौवत्स, शुक, पिक, काक भी कुछ नहीं खाते वे भी तनुता को प्राप्त हो गये हैं।

छठी विरह की अवस्था का नाम है, विषयों से विरक्ति। प्रियतम के विरह में पुष्प, माला, गंध, तेल फुलैल, गद्दा, तकिया, गाना, बजाना, सुस्वादु, भोजन आदि जितने सुखकर विषय हैं उनकी ओर से विरक्ति हो जाना। विरहिनी श्रीराधिका जी की दशा का वर्णन करते हुए कवि उस दशा का बड़ा ही सुन्दर मर्मस्पर्शी चित्र खींचते हैं—

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन।
हरि तुम्हारे विरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यौ तेल तमोल भूषन अंग वसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ़, भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि, गवन मोतन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुभी, गिरि धरनबलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैंन जल भरि रोय दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि पट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आसा लीन॥

केवल मलिन वसन मल से आवृत, कृश शरीर में विरहिनि के प्रान इसी आसरे से अटके रहते हैं, कि सम्भव है, कभी प्रियतम के दर्शन हो जाँय।

विरह की सप्तम अवस्था का नाम है 'लज्जा प्रणाश' प्रेम में लोक लाज, कुल परिवार बड़े बूढ़ों की कानि नहीं रह जाती हमारी इस दशा को देखकर दूसरे क्या कहेंगे, इसकी चिन्ता नहीं। दूसरे जो चाहें कहें, बकते हैं तो बकते रहें। कवि ने—इसका कैसा सुन्दर चित्र खींचा है। विरहिणी कह रही है—

कोऊ कहो उलटा कुलीन अकुलीन कोऊ,

कोऊ कहो रंकन कलंकन कुनारी हूँ ॥
कैसो देवलोक परलोक तिरलोक में तो,
लीनो हौं अलोक लोक लीकन ते न्यारी हूँ ॥
तन जाओ पन जाओ देव गुरु जन जाओ,
जीव क्यों न जाओ नेक टरत न टारी हूँ ।
वृन्दावनवारी गिरधारी के मुकुट वारी,
पीत पटवारी बाँकी मूरति पै वारी हूँ ॥

विरह की अष्टम अवस्था का नाम है—'उन्माद'। उन्माद एक वीर्य सम्बन्धी रोग होता है । जिसे वह हो जाता है, उसे चैन नहीं। प्रतिक्षण व्याकुल बना रहता है। जो मन में आता है, अंड बंड बकता है। शरीर की सुधि नहीं, लोक लाज शील सदाचार किसी का भी ध्यान नहीं पागलों की सी दशा हो जाती है। उदाहरण: लीजिये—

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी मेरो दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, सोणो किस विधि होय।
गगन मंडल पै सेजपिया की किस विधि मिलणो होय।
घायल की गति घायल जानै, जो कोई घायल होय।
जौहरि की गति जौहरि जानै, दूजा न जाणै कोय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, वैद मिल्यो नहीं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब वैद सँवलिया होय॥

यह प्रेमोन्माद तभी शान्त होता है। जब सँवरिया आकर नाड़ी पकड़ते हैं। वैद्य बन के उपचार करते हैं।

विरह की नवमी अवस्था का नाम है मूर्छा क्षण क्षण में

अचेत हो जाना शरीर की स्मृति न रहना। मूर्छा नामका वैद्यक में रोग होता है। उसमें रोगी धड़ाम से पृथ्वी पर गिर जाता है। तनकी सुधि बुधि भी नहीं रहती इसका अनूठा उदाहरण लीजिये।

थाकी गति अंगन की मति परि गई मंद,
सूख झाँझरी—सी ह्वै कैं देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूर जान॥
'हरीचन्द' रावरे विरह जग दुखभयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अथान लागे,
आओ प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

प्राण मुरझाने से लागे, अर्थात् मूर्छित होकर विकल हो गई। ये नौ अवस्थायें कहने की हैं। दशवीं दशा मरण की है। यहाँ मरण से अभिप्राय साक्षात् मरण नहीं मृत्यु के समान की अवस्था समझनी चाहिये। इसका क्या उदाहरण दें। प्रह्लादजी ने अपने उपदेश में प्रेम की इन विभिन्न दशाओं का बड़ी बुद्धिमानी से दिग्दर्शन कराया है।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! भगवान् में प्रेम हो जाने पर उनके चरणों में अनन्य प्रीति उत्पन्न होने पर उनके लीला विग्रहों द्वारा किये हुए कर्मों को स्मरण करके

भक्त की विभिन्न लोक बाह्य दशायें हो जाती हैं। भगवान् के अनुपम सौन्दर्य माधुर्य को स्मरण करके वह आनन्द में निमग्न होकर बार बार फुरहरी लेता है। उसके रोम रोम में सिहरन उठने लगती है। पल पल पर कँपकपी आती है। रोयें खड़े हो जाते हैं रोमों की जड़ में गुठली सी पड़ जाती हैं। कंठः गद्गद् हो जाता है मुख से स्पष्ट वाणी नहीं निकलती। कुछ कहना चाहता है, कुछ निकलता है। स्खलित वाणी में अपनी वेदना को प्रकट करता है। सो भी भली भाँति करने नहीं पाता। परन्तु चित्त मानता नहीं। भीतर के भरे भाव ऊपर आना चाहते हैं। अन्तकाल की अव्यक्त भावनायें व्यक्त होना चाहती हैं। उसी आवेग में भक्त उच्च स्वर से विरह के पदों को गाने लगता है। गायन में वह अपने हृद्गत् भावों को व्यक्त करता है गाते गाते उसकी विरह वेदना बढ़ जाती है। वह अनुभव करता है, मेरे प्रियतम मुझे दर्शन नहीं देते। इस बात का स्मरण आते ही वह रोने लगता है। अश्रु बहाने लगता है। रोते रोते विकलता बढ़ती है, तो वह ऐसा अनुभव करता है। मानों मेरे प्राणनाथ मुझसे मिलने के लिये व्यग्र हों। उसी भाव में भावित होकर वह नृत्य करने लगता है।

उसकी सभी चेष्टायें लोक बाह्य हो जाती हैं। जैसे सिर पर भूत चढ़ने पर आदमी अंट संट बकता है, सिर और सम्पूर्ण अंगो को कँपाता है, असम्बद्ध प्रलाप करता है, उसी प्रकार वह व्यर्थ की चेष्टायें करने लगता है। कभी कभी

तो रो रो कर विलाप करता है। "हे शरणागत वत्सल! मुझे छोड़ कर कहाँ गये। हे हरे! मैं तुम्हारे बिना कैसे जीऊँगा। हे करुणा के सागर! दया करके दर्शन दीजिये। हे अशरण शरण! सागर में डूबते हुए मुझ अधम अकिंचन का उद्धार कीजिये। हे गोपी जन वल्लभ मुझे अभय प्रदान कीजिए। विलाप करते करते जब थक जाता है, तो एकान्त में नेत्र बन्द करके ध्यान करने लगता है। ध्यान में तन्मय हो जाता है फिर ध्यान में उसे बड़ी दीनता उत्पन्न होती है। अपने को अत्यन्त हेय अनुभव करने लगता है। उसे अनुभव होता है, सब मेरे ऊपर कृपा करें तो सम्भव है मेरे प्राण धन इष्ट मुझे मिल जाँय। इसलिये जिसे भी सम्मुख देखता है उसको देख कर रोने लगता है। उसके चरण पकड़ कर गद्गद् कंठ से कहता है—"मेरे ऊपर कृपा करो। मुझे वर दो मेरे प्राणेश्वर मुझे मिल जाँय। दीन जान कर उसे कृपालु लोग समझाते हैं, कहते हैं—"इस प्रकार अधीर होने की आवश्यकता नहीं। कृपालु कृष्ण अवश्य ही कृपा करेंगे। दया सागर दामोदर दया की दृष्टि से तुम्हें देखेंगे। इन आश्वासनों को सुनकर वह उन्हीं के भाव में भावित हो जाता है। अन्तःकरण से उनसे ही मिल जाता हैं, उन्हीं के ध्यान में तन्मय हो जाता है लज्जा को तिलाञ्जलि देकर, सर्वथा संकोच को छोड़कर बारम्बार दीर्घ निश्वास छोड़ता हुआ हे हरे रक्षा करो! हे जगतपते! कृपा करो! हे नारायण! मुझे विपत्ति सागर से

उबारो। हे अच्युत! मेरी ओर दया की दृष्टि से निहारो। इस प्रकार प्रलाप करते करते भक्त मूर्छित हो जाता है।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"बालको! हृदय में जब कृष्ण रति—भगवान् वासुदेव में अनन्य प्रीति—हो जाती है, तब उसकी दशा अवर्णनीय अलौकिक हो जाती है।

छप्पय

मलिन हृदय जे मनुज फँसे जग चक्कर माँही।
काटन बन्ध उपाय कृष्ण चरननि तजि नाहीं॥
तातैं तजि व्यवहार जगत के हरि चित धारौ।
ज्ञान खड्ग कूँ धारि काम क्रोधादिक मारौ॥
जिही मुक्ति निर्वान है, जाहि परमपद हू कहैं।
हृदयेश्वर हरि सर्वदा, हृदय माहिं दीखत रहैं॥

———

भगवान् अति सन्निकट हैं

(४८१)

कोऽतिप्रयासोऽसुर बालका हरे—
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनाम्,
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

धन, दारा, पशु, पुत्र, अश्व सम्पति रथ हाथी।
नाशवान् सब छनिक जीव के जे नहिँ साथी ॥
जो सबके हैं सुहृद् आतमा अन्तरयामी।
अविनाशी अखिलेश चराचर जग के स्वामी ॥
ते अति घाटे में रहैं, हरि तजि विषयनि कूँ भजैं।
चाकचिक्य लखि कांच को, कर गत हीरा कूँ तजैं ॥

अज्ञान वश जीव को कैसी मूढ़ता व्याप्त हो गई है। स्त्री, पुत्र, परिवार, पृथ्वी, पैसा परिजन, पुरजन जो दूर के हैं, जिनका

---

*प्रह्लादजी अपने सहपाठी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो भैया ! श्री हरि भगवान् की उपासना करने में ऐसा कौन सा प्रयास है, अरे वे तो आकाश के समान अपने हृदय में ही स्थित हैं वे तो सामान्यतः सभी प्राणियों के आत्मा हैं सखा हैं। फिर उनके अतिरक्त अन्य विषयों के उपार्जन में लाभ ही क्या ?

अपने से कोई सम्बध नहीं, उनमें तो ममत्व कर लेता है, किन्तु जो आत्मा अति सन्निकट है जिसके समीप कोई नहीं उसे भूल जाता है उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नवान् नहीं होता यदि आत्मानुभूति से वंचित रहा और धातुओं के चार ठीकरे इकट्ठे कर भी लिये तो इससे लाभ ही क्या ?

नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—'राजन! असुर बालकों की उत्सुकता देख कर प्रह्लादजी उनसे फिर कहने लगें —"प्रेम के आवेग में भगवद् भक्त निरंतर भगवान् के नामों को ही लेता रहता हैं, बड़ी आर्तवाणी में, करुण स्वर से, अश्रु विमोचन करता हुआ वह नाम कीर्तन करता है।"

असुर बालकों ने पूछा इससे क्या होता है ? ऐसा करने से क्या लाभ है ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"भाई, पहिले तो तुम लाभ का ही अभिप्राय समझो, लाभ क्या ? क्या कुछ धातुओं के सिक्के मिल गये, यही लाभ है। यह तो अति तुच्छ लाभ है। इससे तो संसार बन्धन और बढ़ता है, संसृति स्थाई होती है। वास्तविक लाभ तो यह है, कि भगवान् के पादपद्मों में प्रीति हो। यह संसार बन्धन सदा के लिये विलीन हो जाय। जब तक मन में वासना रूप जीव विद्यमान है, तब तक उसमें से अंकुर उत्पन्न होते रहेंगे और पुनः पुनः जन्मना, पुनः पुनः मरना रूप चक्कर चलता ही रहेगा। जब भक्ति रूपी अग्नि की उष्णता से वासना रूप बीज निदग्ध हो जायगा, तब उसमें चाहे जितनी भी खाद दो जितना भी जल दो अंकुरित न होगा उसमें से जब वह जमेगा, ही नहीं तो फिर आगे और वृक्षों को

उत्पन्न ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब शरीर के सहित चित्त भगवद् भाव में भावित हो जायगा। साँवलिया के रंग में रंग कर उनके ही अनुरूप रूप वाला हो जायगा तब वह बन्धन और मुक्ति दोनों के चक्कर से मुक्त हो जायगा।

असुर बालकों ने पूछा—"बीज रूप वासना के दग्ध हो जाने पर जन्म मरण के चक्कर से तो छूट जायगा, किन्तु फिर ब्रह्म निर्वाण रूप परमपद की प्राप्ति कैसे होगी ?

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भाई ! समस्त प्रयत्न तो वासनाओं की निवृत्त के लिए हैं। जहाँ वासनायें नष्ट हुई, तहाँ अपने आप प्रकाश होने लगता है। दर्पण पर मैल चढ़ा है। आत्म दर्शन नहीं होता। उसमें कहीं से अपना प्रतिबिम्ब लाने के लिये प्रयत्न नहीं करना है। प्रयत्न तो एकमात्र उस धूलि को हटाने के लिये है। जहाँ धूलि हट गई, कि आत्म दर्शन होने लगेगा। इसी प्रकार काम क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जायँ वासना का बीज दग्ध हो जाय, अन्तःकरण पवित्र हो जाय, पवित्र अन्तःकरण में भगवद्भक्ति का संचार हो जाय, अन्तःकरण भगवद् भाव में रंग जाय, बस यही ब्रह्मनिर्वाण है।" यही परम सुख है, यही मुख्य उद्देश्य है यही परमपुरुषार्थ है।

असुर बालकों ने कहा—भैया, प्रह्लाद ! भगवान् तो दीखते नहीं। उन्हें कैसे पावें ? कहाँ रहते हैं वे ? कहाँ जाने में उनके दर्शन होंगे। कहाँ भजन करने से वे मिलेंगे ?",

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भाइयो ? प्रयास तो बाहर की दूर से वस्तु लाने में होता है। भगवान् की उपासना में क्या प्रयास ? देखो चाहें न देखो, वे बाहर नहीं भीतर हैं, घट घट

में व्याप्त है, माया के परदे में मुँह छिपाये बैठे हैं, जब यह अज्ञान रूपी जवनिका हट जायगी, तब वे अपने आप दिखाई देने लगेंगे। वे सामान्यतः सभी प्राणियों के सखा, सुहृद्, बन्धु, हितैषी, शुभचिंतक और सर्वस्व हैं। ऐसे श्रीहरि को त्याग कर विषयों के संग्रह में ही समय को व्यतीत करना व्यर्थ है।"

असुर बालकों ने कहा—"संसार के सुखद पदार्थों का संग्रह न करें, तो कल्याण कैसे हो ? सुख की प्राप्ति कैसे हो ?

प्रह्लाद ने कहा—"देखो, भैया ! गंभीरता पूर्वक विचार करो। जिसे स्वयं सर्प ने काट लिया है, वह दूसरों की क्या रक्षा कर सकता है ? जो स्वयं डूब रहा है, वह दूसरे डूबते हुए को कैसे उबार सकता है ? जिन धन, स्त्री, पशु, पुत्र, घर, भूमि, हाथी, घोड़ा, नाना वाहन, परिच्छद तथा अन्य विषयोपयोगी सामग्रियों को सुख प्राप्ति का साधन समझते हो, ये स्वयं नाशवान् अनित्य तथा क्षणभंगुर हैं। फिर ये इस मनुष्य का प्रिय करने में कैसे समर्थ हो सकती है ? भैया ! इन नाशवान् विषय भोगों के उपभोग से अविनाशी श्रीहरि कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? पदार्थ यहीं रह जाते हैं, उनकी वासनायें साथ जाती हैं, उसी के कारण पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है और मरना पड़ता है।"

दैत्यकुमारों ने पूछा—"अच्छा, ये सांसारिक भोग तो अनित्य हैं किन्तु जो स्वर्गीय सुख हैं, नंदनकानन कल्पवृक्ष के दिव्य पुष्प, अमृत, अप्सरायें दिव्य विमान आदि पुण्य से प्राप्त होने वाले पदार्थ तो नहीं है ?"

प्रह्लादजी ने हँसकर कहा—"अरे, भाई ! जैसे ये पदार्थ

हैं वैसे ही वे हैं। स्वर्गीय पदार्थ कुछ देर में नष्ट होते हैं। यहाँ के वर्ष छोटे हैं, वहाँ के बड़े यहाँ के पदार्थ कम मोहक हैं, वहाँ के अधिक मोहक हैं। दोनों ही अनित्य, दोनों ही नाशवान् और परिणाम में दुखद है। वे भी क्षयिष्णु हैं, उनमें भी सातिशय दोष है। वे भी निर्दोष नहीं। निर्दोष तो एकमात्र ब्रह्म ही हैं परमेश्वर को छोड़कर सभी में कुछ न कुछ दोष है। सभी कभी न कभी काल के अधीन होने वाले हैं। अतः जो काल के भी काल हैं उन प्रभु को ही एकनिष्ठ होकर भक्ति भाव से भजना चाहिए। उन्हीं की अनन्य भाव से उपासना करनी चाहिये। उन्हीं की सर्वात्म भाव से आराधना करनी चाहिये। इन संसारी कर्मों में क्या रखा है।"

दैत्य वालकों ने कहा—"कर्म करने का उद्देश्य सुख है जिससे सुख मिले वे कर्म तो अवश्य करने चाहिये।"

प्रह्लादजी ने कहा—"यह सत्य है कर्म सुख के लिए किये जाते हैं, किन्तु किसके सुख के लिए। आत्मा के सुख के लिए या शरीर सुख के लिए ?

असुर वालकों ने कहा—"संसार में तो शरीर का सुख-ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।"

प्रह्लादजी ने कहा—"शरीर का सुख सुख नहीं है। जितने ही कामना सहित कर्म करोगे, उतने ही दुखी होगे। इसलिये कामना को त्यागकर निष्काम भाव से—भगवद् अर्पण बुद्धि से—किये हुये कर्म ही श्रेष्ठ हैं। सकाम कर्मों का फल प्रायः विपरीत ही होता है। मनुष्य जिस शरीर के लिये लोक में काम्य कर्मों के द्वारा भाँति भाँति के भव्य भोगों को प्राप्त करता है। वह शरीर भी तो सदा रहने वाला नहीं है, अस्थायी है

न जाने कब निर्जीव होकर नष्ट हो जाय। फिर दूसरा शरीर प्राप्त हो। शरीर तो मिलते रहते हैं छूटते रहते हैं। जिस शरीर के लिए यह सब पाप करते हैं, जो संसार में सब से प्यारा है। बच्चे को मार कर भी जिस शरीर की लोग रक्षा करते हैं, जब इस शरीर का ही ठिकाना नहीं तो स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, माता, पिता ये ममता से ही अपनाये हुए हैं। शरीर ही न रहेगा तो ये क्या रहेंगे। कैसा भी सुन्दर घर बनाओ, कितनी भी कारीगरी से रचपच के बनाओ। कितने भी परिश्रम से कितना भी अन्न एकत्रित करो, कितना भी बड़ा राज्य हो, हाथी घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा, पुरजन परिजन, मन्त्री अमात्य सेवक तथा और भी कितने अनुयायी क्यों न हों सब के सब एक न एक दिन नष्ट होने वाले हैं, शरीर के साथ इनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जायगा, इसलिये इन अनर्थकारी अनित्य भोग पदार्थों में ममत्व बुद्धि न करके आत्मचिन्तन में सदा लगे रहना चाहिये।"

दैत्य बालकों ने कहा—"अरे, भैया! ये सब सामग्रियाँ तो सुख देने वाली हैं। संसार में इनके सहारे ही तो मनुष्य सुखी रहता है।"

प्रह्लादजी ने कहा—"भैया! इस प्राणी को सुख कहाँ। गर्भ में कितना दुःख है, जन्म के समय माता को बालक को कितना दुख होता है। बाल्यकाल में दुख ही दुख है। दाँत उत्पन्न होते हैं तो दुख। कान छेदन में दुःख। पढ़ने में दुख, आजीविका पैदा करने में दुःख। विवाह का क्षण भर का सुख होता है, उसमें कितनी कितनी विपत्तियाँ मोल लेनी पड़ती हैं। फिर दरिद्रता का दुःख। व्यापार में घाटे का दुःख स्वजन बन्धु

बान्धवों की वीमारी का दुख। आत्मीय पुरुषों की मृत्यु का दुख, अपने शरीर में होने वाले रोगों से दुख। जो हाथी, घोड़ा वाहन आदि सुखके लिये हैं अन्तमें वे भी दुखदायी बन जाते हैं। लिङ्ग-देह की प्रेरणा से कर्म करते हैं, उन्हीं से शरीर प्राप्त होता है प्रारब्ध कर्म भोगने ही पड़ते हैं चाहे एं करो या चें। इसलिये शरीर सुखों की ओर ध्यान न देकर सदासर्वदा श्रीहरि का ही चिन्तन करते रहना चाहिये।

धर्मराजयुधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! इतना कहकर प्रह्लादजी चुप हो गये।

छप्पय

भैया सोचो नेक जगत में कितने सुख हैं।
गर्भवास तैं मरन काल तक दुखई दुख हैं॥
करिकैं नाना कर्म जीव फँसि जाइ जगत महँ।
करै कामना सहित कर्म चित देहन हित महँ॥
देह कर्म अविवेक तैं, होहिं तिन्हैं तातैं तजौ।
आश्रय जिनके विश्व है, तित सर्वेश्वर कूँ भजौ॥

भगवान् को सभी भज सकते हैं

(४८२)

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० ५१, ५२ श्लो०)

छप्पय

नहीं नियम है जिही तिन्हें आराधैं द्विजई ।
होंहिँ असुर, विट, शुद्र, नारि चाहैं अन्त्यजई ॥
करि कैं भक्ति अनेक तरे नर पशु गोधादिक ।
नहीं रिझावैं तिन्हें दान, तप, व्रत, शौचादिक ॥
आवश्यक नहिँ विप्रपन, ऋषिपन हू अरु अमरपन ।
प्रभु प्रसन्नता के निमित, आवश्यक हरि अपनपन ॥

श्री हरि यदि किसी गुण से, किसी कला से, किसी व्यवहार से किसी दान धर्म से ही प्रसन्न होने वाले होते तो वे दीनों

---

*प्रह्लादजी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो ! भगवान् को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मणपना, देवता होना, ऋषि होना, शील सदाचार, बहुज्ञता पर्याप्त नहीं और न वे दान, तप, यज्ञ, शौच एवं व्रतादि से ही प्रसन्न होने वाले हैं। ये तो केवल विशुद्ध भक्ति से प्रसन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त और सब विडम्बना मात्र ही है।

को कभी न मिलते, सदा बड़े आदमी ही उन्हें प्राप्त कर सकते। यद्यपि द्विज होना यह बड़े पुण्य का फल है। ब्राह्मण भगवान् की विभूति ही है, किन्तु द्विज होने से ही कोई भगवान् का कृपा पात्र बन जाय सो बात नहीं। यदि ब्राह्मण है, उसने विधिवत् चारों वेदों का अध्ययन किया है, किन्तु वह भगवान् का भक्त नहीं, तो वह भगवान् का प्यारा नहीं। इसके विपरीत जो चांडाल है, किन्तु भगवान् का अनन्य भक्त है, तो वह उस वेदज्ञ ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, भगवान् का अत्यन्त प्यारा है। अतः भगवद् भक्ति में बड़ाई छुटाई जातिकृत तथा वय आदि नहीं है। वहाँ तो जिसकी जितनी हो अधिक अनन्यता है, वह उतना ही भगवान् का प्रिय है।

दैत्य बालकों से प्रह्लाद जी कह रहे हैं—"भाइयो! देखो, भगवान् प्राणि मात्र के प्रभु हैं, वे घट घट में व्याप्त हैं, सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं। उनका जो भी भक्ति भाव से भजन कर लें वे ही भगवत् बन जायँगे। देखो, मेरा ही जन्म अधम असुर कुल में हुआ है। फिर भी भागवान् ने मुझ पर कितनी कृपा की है, मुझे अपनाया है। अपना त्रैलोक्य पावन सुमधुर नाम लिवाया है।

असुर बालकों ने कहा—"भैया! तुम कुलीन हो, राज वंश में उत्पन्न हुए हो। तुम पर भगवान् ने कृपा की है, हम तो अधम असुर कुल में दीन हीनों के यहाँ उत्पन्न हुए हैं। धनी भी नहीं, देवता भी नहीं हम पर प्रभु कैसे कृपा करेंगे?"

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भैया! देवता होने से कुलीन होने से क्या हुआ। देवता असुर, मनुष्य राक्षस, यक्ष, गन्धर्व,

ब्राह्मण चांडाल कोई भी क्यों न हो, जो भी भगवान् के चरणों का चिन्तन करेगा वही सुखी होगा। देखो, यदि ब्राह्मण होने से ही प्रभु प्रसन्न हो जाते, तो सभी ब्राह्मण भक्त बन जाते। बहुत से ब्राह्मण अपनी करनी के कारण राक्षस हो जाते हैं। बहुत से अधम योनियों में प्राप्त होते हैं। देवता होने से ही कोई भगवान् की कृपा का पात्र हो सो भी बात नहीं। इन्द्र का भी पतन होता है, उसें भी कर्मवश सूकर कूकर आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है। ऋषि ही हो गये, यह भी पर्याप्त नहीं। ऋषियों का योगारूढ़ होने पर भी भगवद् भक्ति के बिना पतन होते देखा गया है। कहो कोई शील, सदाचार, बहुज्ञता, दान, तप यज्ञ, शौच तथा व्रतादि से ही भगवान् को प्रसन्न कर ले सो भी बात नहीं। इनके द्वारा भी कभी कभी पतन होता है।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो प्रह्लादजी ने बेतुकी बात कह दी। देखिये, जप, मौन, व्रत, अध्ययन, स्वधर्म पालन, एकान्त वास, समाधि, ये सब मोक्ष के साधन हैं और प्रह्लादजी इन सब का निषेध कर रहे हैं, यह क्या बात है? मोक्ष के साधनभूत इन कार्यों को भी नर न करें तो और करें क्या?"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ सूतजी बोले—"नहीं, नहीं, भगवन्! इस कथन का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि इन कर्मों को करे ही नहीं। करे अवश्य, किन्तु भक्ति के साथ करे। भक्ति हीन ये कर्म व्यर्थ हैं। इन्द्रियों पर विजय किये बिना वासना युक्त मलिन चित्त से किये गये, ये कर्म केवल सांसारिक भोगों को ही देने वाले होते हैं। ये भी एक प्रकार

के व्यापार—पेट भरने के साधन बन जाते हैं। अतः यहाँ इनकी अनुपयोगिता बताने में इतना ही तात्पर्य है, कि भक्ति रहित ये कार्य व्यर्थ हैं। भक्ति सहित किये जायँ तब तो कहना ही क्या ? यदि भगवान् केवल सदाचार से ही सन्तुष्ट होने वाले हों तो बड़े सदाचारियों को मोक्ष प्राप्ति क्यों न हो वे केवल स्वर्ग में ही क्यों जायँ, इसके विपरीत गीध का क्या आचार विचार सदाचार था, मृतक जीवों का मांस खाता था। अजामिल किस द्विजत्व के सदाचार का पालन करता था। उससे कौन सा कदाचार बचा था ? फिर भी भगवान् की इन पर कृपा हुई। गज ने कौन से शास्त्र पढ़े थे, भीलनी ने कौन से व्रत की दीक्षा ली थी, केवल भक्ति के सहारे ही वह भगवान् को प्राप्त कर सकी। नृग ने तो नित्य ही असंख्यों गौओं का दान किया था। किन्तु अन्त में उसे गिरगिट होना पड़ा। सुदामा के पास तो स्वयं ही खाने को नहीं था, दान क्या देता ? फिर भी भगवान् ने उसके चरण पखारे, उसे अपना ऐश्वर्य प्रदान किया। कितने कितने ऋषि तपस्या करके मर गये, जीवन में उन्होंने शाप देकर अपने तप को नष्ट ही किया। व्रज के ग्वाल बालों ने पंचाग्नि नहीं तापी थी, जल में डूब कर समाधि नहीं लगाई थी। घर घर से माखन चुराया था, गोपियों को चिढ़ाया, इसी पर भगवान् उनसे प्रसन्न हो गये। व्याध ने तो न कोई यज्ञ किये न व्रत, निरन्तर पक्षियों को मारा करता था, भगवान् के चरण कमल को भी मृग के भ्रम से वेध दिया। इसी पर उसे परम पद की प्राप्ति हुई। इसके विपरीत दक्ष प्रजापति ने तो सम्पूर्ण वैभव पूर्ण महायज्ञ किया था। समस्त देवताओं को बुलाया था, पानी की भाँति द्रव्य व्यर्थ किया था, किन्तु भक्ति हीन होने के कारण—विश्वनाथ

से द्वेष रखने के कारण—उसके यज्ञ का विध्वंस हुआ। उसका वीरभद्र के द्वारा सिर काटा गया।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् की प्रसन्नता के लिये यज्ञ, तप, शौच तथा व्रतादि शुभ कर्म ही पर्याप्त नहीं। भगवान् भक्ति से प्रसन्न होते हैं। और सब विडम्बना है मिथ्याचार है, जीवन को व्यर्थ खोना है।

प्रह्लाद जी कह रहे हैं—"दैत्य बालको! तुम भेद भाव को तिलाञ्जलि दे दो। सब में एक ही आत्मा का अनुभव करो। जैसे तुम्हारे पैर में काँटा गड़े तो तुम्हें दुःख होता है। इसी प्रकार समझो सब को दुःख होता होगा। इसलिये कभी किसी को काँटा न गड़ाओ। तुमसे कोई अवाच्य वचन कहे तो तुम्हें मानसिक दुःख अवश्य ही होता होगा, अतः तुम भूल कर भी किसी को बुरे वचन न कहो। सरांश यही है जो बात तुम्हें अच्छी न लगती हो तो उसका आचरण अन्यों के साथ भी मत करो। सम्पूर्ण जगत को हरिमय समझ कर सब को मन से प्रणाम करो, सबका आदर करो। भक्ति से ही अनेक जीवों को सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं।

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आप भक्ति की इतनी प्रशंसा कर रहे हैं इसे हम स्वीकार करते हैं किन्तु बिना अधिकार प्राप्त किये बिना ज्ञानार्जन किये मुक्ति कैसे हो सकती है?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाभाग! भगवान् में भक्ति हो जाय, तो सब ज्ञान वैराग्य स्वतः ही बिना बुलाये आ जाते हैं। भक्ति जाति-कुल, गोत्र, ऊँच नीच की अपेक्षा नहीं

करती। भक्ति श्वपच तक को पवित्र कर देती है। देखिये प्रह्लाद बलि व्यास बाणासुर ये सब असुर ही तो थे। भगवत् भक्ति के कारण पुण्यश्लोक हो गये। विभीषण राक्षस ही तो थे, भक्ति के प्रभाव से आज जगद्वन्द्य हो गये हैं। व्रजाङ्ग-नायें तो सभी अनपढ़ थीं, वे तो शौच, सदाचार, शिष्टाचार सभी से अनभिज्ञ थीं सीधी सादी सरल ग्रामीणा थीं। भगवान् उनके शुद्ध भाव से—अनन्य प्रेम से ही रीझ गये। हनुमान् जी जाति के कौन श्रेष्ठ थे किंपुरुष होने पर भी आज वे देवताओं के भी पूजनीय और वन्दनीय बन गए। गरुड़, गज, गीध आदि तो पक्षी ही थे। प्रभु का प्रसाद पाकर ये अजर अमर त्रैलोक्य वन्दित भागवत हो गये। भगवान् में भक्ति रखने के ही कारण अवध के कीट पतंग तक भगवद् धाम के अधिकारी हो गये। अतः संसार में भक्ति ही सार है। किसी भी प्रकार से काम से, क्रोध से, लोभ से, द्वेष से, वैर से अथवा प्रेम से भगवान् में ही भक्ति रखनी चाहिये। उन्हीं से येन केन प्रकारेण सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये। उन्हीं में चित्त को लगाना चाहिये।

दैत्य बालकों ने कहा—"अच्छा भैया! तैंने बहुत बातें बताईं। अब तो सबका सारासिद्धान्त समझा दो जीव का एक प्रधान कर्तव्य बता दो।"

यह सुनकर प्रह्लादजी बोले—"भैया! मैं तो संसार में इसी को सबसे श्रेष्ठ सार बात समझता हूँ। यही जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ है, यही परम पुरुषार्थ है, यही उत्तोत्तम कर्तव्य है, कि समस्त प्राणियों में सर्वत्र अपने इष्ट श्यामसुन्दर का दर्शन करे। भेद भाव को भुला कर सब में भगवान् को देखे। यही अनन्य प्रेम है, यही उत्तम अद्वैत भाव है, यही ऐकान्तिक

भक्ति है यही परमेश्वर में परानुरक्ति है। इसी को करना चाहिए।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लादजी की ऐसी सुन्दर रसीली रंगीली प्रेम से भीगी बातें सुनकर उन दैत्य बालकों ने उन्हें स्वीकार किया। क्योंकि वे सब शुद्ध अन्तःकरण के भोले भाले सरल निर्दोष थे। अब गुरु जी की शिक्षा को तो भूल गये सब मिलकर "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव" की रटन लगाने लगे।

छप्पय

सुखद सार को सार शास्त्र सिद्धान्त सुनाऊँ।
मुख्य जीव को धर्म कह्यो जो ताहि बताऊँ॥
हरिमय सबकूँ जानि करो सम्मान सबनि को।
विषय चिन्तना त्यागि रहे नित चिंतन उनि को॥
खग, मृग, नर, सुर असुर अघ, नाम लेत तरि जाइँ सब।
तातैं तजि मद मोह तुम, गहौ कृष्ण की शरन अब॥

———

प्रह्लाद जी पर पिता का पुनः कोप

(४८३)

अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तस स्थिताम् ।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्यथा ॥
श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यो दुःसहं तनयानयम् ।
कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० २,३ श्लो०)

छप्पय

देइ सीख प्रह्लाद असुर सुत अति हरषावैं ।
मानैं श्रद्धा सहित प्रेमतैं हरि गुन गावैं ॥
आये इत गुरु पुत्र निरखिकैं अति घबराये ।
है कैं अति भयभीत दैत्य पति के ढिंग आये ॥
कहैं दीन है प्रभो ! अब, कुमर बिगारै सबनिकूँ ।
कृष्ण नाम कीर्तन करो, सिखवे यों बालकनिकूँ ॥

परमार्थ रूप पादप बीज है संत समागम । कथा उस पादप

❀धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—"राजन् ! जब गुरुपुत्रों ने देखा कि इसकी बुद्धि तो एकान्त भाव से श्रीहरि में ही लगी है, तो-डर के कारण अति शीघ्र जाकर हिरण्यकशिपु को सब समाचार निवेदन कर दिया । पुत्र के द्वारा किये इस अप्रिय सम्वाद को सुनकर दैत्य राज का शरीर कोप के आवेश के कारण काँपने लगा । उसने मन में निश्चय कर लिया कि मैं इस पुत्र को मार डालूँगा ।

का फूल है और कीर्तन उसका सुस्वादु अत्यंत मधुर फल है भक्ति विवर्धिनी परम प्रेममयी कृष्ण कथा को सुनकर जिसे नाम गुण कीर्तन करने की अभिलाषा नहीं होती। उसे यही समझना चाहिये कि सफल वृक्ष के सन्निकट पहुँचने पर भी वह फलों से वञ्चित ही रहा। जैसे फलवान् वृक्षों के फूलों का परिणाम फल है, वैसे ही कथा श्रवण का परिणाम है, कृष्ण कीर्तन।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! विशुद्ध अन्तःकरण वाले प्रह्लाद जी की हृदय से निकली हुई शिक्षा का निर्दोष भोले भाले दैत्य बालकों के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने पूछा "भैया ! अब हम क्या करें ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—" कथा के पश्चात् कीर्तन होता है, सो कीर्तन करो।"

इसपर असुर बालकों ने कहा—"भैया ! हमारे तो बाप दादों ने भी कीर्तन नहीं किया है, कीर्तन करना तो हम जानते नहीं हैं।"

हँसकर प्रह्लाद जी ने कहा—"कीर्तन करना कोई कठिन काम थोड़े ही है ! इसे तो सब कोई, पढ़े, बिना पढ़े, बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण चाण्डाल सभी कर सकते हैं। किसी प्रकार के कला कौशल की आवश्यकता नहीं। मुख से नाम उच्चारण करो हाथों से ताली बजाते जाओ। ताली बजाने से पाप रूपी दुष्ट पक्षी उड़ जायँगे। देखो, पहिले मैं बोलूँगा मेरे पीछे तुम सब एक स्वर में बोलना। बोलो—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।

हे नाथ नारायण वासुदेव ।।

दैत्य बालकों ने एक स्वर में बोलना आरम्भ किया—"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" प्रह्लादजी स्वर के सहित ताली बजाकर बड़ी लय से उस धुनि को कह रहे थे। बच्चे उनके स्वर में स्वर मिलाकर उनका अनुसरण कर रहे थे। अब प्रह्लाद जी ने क्रमशः अपनी गति को द्रुत कर दिया। तालियाँ भी द्रुत गति से बजने लगीं। सभी झूम झूमकर कीर्तन करने लगे। सभी तन्मय हो गये थे, सभी के नेत्र बन्द थे। यन्त्र के समान वे ताली बजा बजाकर झूम रहे थे। मुख से माधव के नामों का उच्चारण कर रहे थे। जब कीर्तन का ठाठ भली भाँति जम रहा था, जब सुन्दर समा बँध रहा था, तभी गुरु पुत्र आये। द्वार पर से ही संकीर्तन की सुमधुर ध्वनि सुनकर उनके कान खड़े हुए। बाहर कुतूहल वश बहुत से लोग खड़े थे। गुरु पुत्र भी आकर खड़े हो गये, किन्तु उनकी ओर देखने का अवसर ही किसे था। सभी प्रेमानन्द में छके हुए शरीर की सुधि बुधि भूले हुए थे।

गुरु पुत्रों ने सोचा—"मैं यहाँ खड़ा हूँ, किसी ने अभी जाकर हिरण्यकशिपु से कह दिया, कि वे तो खड़े खड़े सबसे कीर्तन कराते हैं, तब तो हमारे ऊपर विपत्ति के पहाड़ ही टूट पड़ेंगे। अतः किसी के सम्वाद देने के पूर्व हम ही क्यों न जाकर राजा को सूचना दे दें कि प्रह्लाद सब बालकों को बिगाड़ रहा है, उलटी पट्टी पढ़ा रहा है। हमारे पहिले जाकर कहने से दोष हमारे सिर न रहेगा।"

यह सोचकर दोनों गुरु पुत्र दौड़े दैत्यराज के समीप गये और हाँपते बोले—"प्रभो ! प्रह्लादजी ने ;तो सबको

अपना सा बना लिया। उसने तो पाठशाला को कीर्तन भवन बना लिया है।"

इस दुस्सह सम्वाद को सुनते ही हिरण्यकशिपु का क्रोध सीमा को पार कर गया। वह इस असह्य अप्रिय समाचार के सुनते ही क्रोध के कारण काँपने लगा। उसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि यह मेरा कुलघातक अधम पुत्र अब बहुत अधिक बढ़ गया है। अब इसे मैं स्वयं ही खड्ग से मार डालूँगा।"

उसने ओठों को काटते हुए अत्यन्त क्रोध भरी वाणी में सेवकों से कहा—"तुम अभी जाकर मेरे उस दुष्ट पुत्र को पकड़ लाओ। आज मैं उसे मारे बिना छोड़ूँगा नहीं।"

सेवक तो प्रह्लादजी की भगवद् भक्ति और दृढ़ निष्ठा से पहिले ही प्रभावित हो चुके थे। वे मन ही मन प्रह्लादजी का बड़ा आदर करते थे। किन्तु डर के कारण अपनी श्रद्धा को प्रकट नहीं करते थे। उन्होंने पाठशाला में विनीत भाव से जाकर कहा—"कुमार ? आपको पिताजी राजसभा में बुला रहे हैं। कृपा कर आप राजसभा में पधारें तो अति उत्तम हो महाराज कुछ क्रुद्ध हैं।"

इतना सुनते ही प्रह्लाद जी पिता के समीप जाने को उद्यत हुए। लड़के तो चंचल होते ही हैं उन्हें नवीन बात का बड़ा कुतूहल होता है। वे सबके सब बोले—"कुमार ? हम भी आज सब राजसभा में चलेंगे और कीर्तन करते हुए चलेंगे। आज महाराज के कान में भी तो भगवान् के परम पावन सुमधुर नाम पड़ जायँ। इससे अंत में उनकी भी सद्गति हो जायगी।"

प्रह्लादजी को इसमें क्या आपत्ति होनी थी। सबको साथ लेकर वे बड़े उत्साह से संकीर्तन करते हुए राज सभा



की ओर चलने लगे। राज पथों पर हाथ उठा उठाकर उच्चस्वर

से बालकों के साथ कीर्तन करते हुए जब नर नारियों ने प्रह्लादजी को देखा, तो वे भी सब के सब मिलकर कीर्तन करते हुए उनके साथ २ हो लिये। नगर कीर्तन से यही तो बड़ा लाभ है, कि जिनकी इच्छा भी नहीं उनके कानों में भी भगवान् का मंगलमय नाम पड़ जाता है।

उस कीर्तन मंडली को साथ लिये हुए प्रह्लाद जी अपने पिता के समीप पहुँचे। अन्य लोगां ने जब हिरण्यकशिपु की क्रोधमयी मुद्रा देखी, तब किसी का भी साहस उसके समीप जाने का नहीं हुआ। कुछ लोग तो उसके लाल लाल नेत्रों को ही देखकर भाग गये। कुछ दूर खड़े हुए देखते रहे। वे सब डर के कारण थर थर काँप रहे थे, किन्तु प्रह्लाद जी तो निर्भय थे, उन्हें तो किसी का कुछ भय था ही नहीं। वे बड़े उत्साह से अपने पिता के सम्मुख गये। भगवन्नाम के निरन्तर जप से उनके ओठ हिल रहे थे। जाकर प्रथम उन्होंने पितृ चरणों में श्रद्धा सहित प्रणाम किया। पुनः अत्यन्त नम्रता के साथ विनय पूर्वक अञ्जलि बाँधकर उसके सम्मुख खड़े हो गये।

हिरण्यकशिपु ने जब भगवद् भक्त प्रह्लादजी को शान्त दान्त होकर खड़े देखा तो वह दुष्ट उनका तिरस्कार करता हुआ अत्यन्त कठोर वाणी से बोला, उस समय उसका क्रोध सीमा को पार कर गया था। जैसे भूखा व्याघ्र हिरन पर झपटता है, जैसे पैर के नीचे दब जाने पर साँप फुंकार मारता है। जैसे तिरस्कृत हुआ तपस्वी शाप देने को उद्यत हो जाता है। वैसे ही वह निष्ठुर हृदय का दैत्य अपनी दृष्टि से प्रह्लादजी को भस्म सात करता हुआ बोला—क्यों रे नीच! तैंने अब

भी अपनी नीचता नहीं छोड़ी।"

प्रह्लादजी ने बड़ी नम्रता के साथ कहा—"पिताजी मैंने क्या किया ?"

सर्प के समान दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ वह दैत्यराज बोला—"अरे कुलाङ्गार ! अब भी तुझे पता नहीं। तू बड़ा धृष्ट हो गया है। मेरे सामने उत्तर देने में तुझे भय भी नहीं लगता। अभी इन गुरु पुत्रों ने कहा है, तू पाठशाला के सभी लड़कों को विपरीत शिक्षा देता है मेरे शत्रु का नाम कीर्तन कराता है उसी के गुणों को गाता है जिसने मेरे भाई को मार डाला है। तू मुझे कुछ भी नहीं समझता ?

प्रह्लादजी ने विनीत भाव से कहा—"नहीं, पिताजी ! मैं तो आपका हृदय से आदर करता हूँ।"

कुटिल भृकुटि से क्रोधपूर्वक देखता हुआ वह असुर बोला—"आदर करता है पत्थर ! यही आदर है कि मैं जो कहूँ उसके विपरीत आचरण करना। मेरी आज्ञा का सर्वदा उल्लंघन करना। वह आदर नहीं अनादर है मुझे तृण के समान समझना है। इसका मैं तुझे अभी फल चखाऊँगा। तुझे इसी क्षण यम सदन पठाऊँगा। इसी खड्ग से तेरा सिर धड़ से पृथक् करूँगा।" तू मुझे साधारण असुर समझता होगा। तुझे ज्ञात हो कि मेरे कुपित होने पर सम्पूर्ण देव उपदेव तथा लोकपाल थर थर काँपते हैं। तू किसके बल पर ये बढ़ बढ़कर बातें कर रहा है। किसके सहारे तू सब को तृण के समान समझता है ? किसके सहारे निर्भय होकर छाती फुलाकर धृष्टता के साथ उत्तर दे रहा है ?"

प्रह्लादजी ने विनीत भाव से कहा—"पिताजी ! जिनके बल पर संसार में सभी अपने को बली समझते हैं उन्हीं का मुझे वल है। मुझे ही क्या ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सभी को वे ही बल प्रदान करते हैं। उन्हीं की सत्ता से सब की सत्ता है। छोटे बड़े, स्थावर जंगम सभी प्राणी उन्हीं के अधीन हैं। हम में उन्हीं का दिया बल है।

क्रोध से ओठों को काटता हुआ हिरण्यकशिपु बोला—"अरे दुर्विनीत! तू यह कैसी राय भाटों की सी स्तुति कर रहा है। सम्पूर्ण जगत् तो मेरे अधीन है। सबका स्वामी तो मैं हूँ, मेरे बल के सम्मुख अन्य किसका बल हो सकता है।

प्रह्लादजी ने सरलता के स्वर में कहा—"पिता जी ! आपके पास भी उन्हीं का दिया बल है। संसार के समस्त वलवानों के वल वे ही वासुदेव हैं। वे ही सब के स्वामी हैं, वे ही सब से महान् वली हैं, वे ही काल स्वरूप हैं। शरीर के बल रूप में, इन्द्रियों के ओजरूप में और मन के बल सह रूप में वे श्रीहरि हैं। वे ही जगत् के रचयिता, पालन कर्ता और संहारकर्ता हैं।

अत्यंत क्रोध से काँपता हुआ दाँत पीस कर वह दैत्य बोला—"अरे, नीच जगत् का पालन पोषण कर्ता मैं हूँ। मैं ही सब जगत् की रक्षा करता हूँ। मेरे संकेत से सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य होते हैं। यज्ञों का भोक्ता मैं हूँ। पंचभूत मेरे ही कथनानुसार कार्य करते हैं।"

प्रह्लादजी ने नम्र किन्तु दृढ़ता के स्वर में कहा—"पिता जी ! यही तो असुरपन है। जो देह को ही आत्मा मानते हैं

वे ही असुर हैं। आप इस असुर भाव को त्याग दें। यह छोटा है, मैं बड़ा हूँ। यह पोष्य है मैं इसका पोषक हूँ। इन बातों को भूल जाइये। बुद्धि को साम्य भाव में स्थिर कीजिये। मेरे ऊपर क्रोध न करें।

हिरण्यकशिपु ने प्रह्लादजी को झिड़क कर कहा— "क्रोध करने का तो तू काम ही करता है। मेरे शत्रु का भजन करता है, उसके गुणों का गान करता है उसे अपना इष्ट समझ कर दास भाव से उसकी उपासना करता है। शत्रु का पक्ष पाती शत्रु ही माना जाता है।"

गंभीरता के साथ प्रह्लादजी ने कहा—"पिताजी! क्रोध को शान्त कीजिये। चित्त को स्थित कीजिये संसार में न कोई बाहर शत्रु है न मित्र। अपना मन ही शत्रु है, मन ही मित्र। इस संसार में असंयत और कुमार्ग का आश्रय लेने वाले चित्त के अतिरिक्त और कोई द्वेष पात्र नहीं है। अतः इस चित्त को समदर्शी बनाइये। मैं मेरा तूँ तेरा के भाव को भूल जाइये। सब को समान भाव से आत्म रूप में देखिये। जीवों में द्वैधी भाव न देखना सब को आत्म स्वरूप ही समझना यही सर्वेश्वर की सर्वश्रेष्ठ सेवा है। वही शूर है, वही विजयी है।

हिरण्यकशिपु ने कहा—"अरे मूर्ख! त्रैलोक्य विजयी तो मैं हूँ। मेरे सन्मुख संसार में कौन ठहर सकता है? आठों लोक पालों को तो मैंने वश में किया है। उन सब पर तो मैंने विजय प्राप्त की है। सरलता के स्वर में प्रह्लादजी बोले— "अजी, पिता जी! लोकपालों को जीतने से क्या होता है। बाहर की विजय विजय नहीं कहलाती। बाहर के शत्रु जीत लिये, किन्तु अत्यन्त प्रबल जो भीतर के काम क्रोध लोभ मोह

शत्रु हैं उन्हें न जीता तो उसका सब जीवन व्यर्थ है। जो सम्पूर्ण प्राणियों में प्रभु को देखते हैं, जो सब को हरिमय समझकर सभी का सम्मान करते हैं। ऐसे ज्ञानी विज्ञानी परमहंस मुनि इन अज्ञान के बन्धु काम क्रोधादिक रिपुओं के जीतने में समर्थ होते हैं। जब वे भीतर के शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर न उनके भीतरी शत्रु रहते हैं न बाहरी। वे अजात शत्रु बन जाते हैं। सो, पिताजी! आप पहिले अपने भीतरी शत्रुओं पर ही धावा बोलें। फिर आपको मुझसे भय न होगा। न फिर मुझे मारने की विविध प्रकार की चेष्टायें ही करेंगे।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी से कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार जब निर्भीक होकर प्रह्लादजी स्पष्ट उत्तर देने लगे, तब तो उस असुर को अत्यन्त ही क्रोध आया वह क्रोध से काँपता हुआ प्रह्लादजी की ओर देखता का देखता ही रह गया। क्षण भर उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

छप्पय

सुनत सुखद सम्वाद दैत्यपति बहुत रिस्यान्यो।
भगवद् भक्त सुशील तनय कूँ रिपुसम मान्यो॥
कहे ढीठ अति भयो म्यान ते खड्ग निकारूँ।
नैंक कृपा नहिं करूँ दुष्ट कूँ अबई मारूँ॥
पठये पकरन पुत्र कूँ, सेवक तुरतहिं गये सब।
करत कीरतन सबनि सँग, आये श्री प्रहलाद तब॥

हरि कहाँ हैं

(४८४)

यस्त्वया मन्द भाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तंम्भेन दृश्यते *॥

(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

मुख तैं मधुमय मधुर नाम माधव के गावत ।
शीलवान् अति सरल लख्यो सुत सम्मुख आवत॥
किटकिटाय कें दाँत दैत्य गर्जन करि बोल्यो ।
मानों विष तैं भर्यौ स्याँपने निज मुख खोल्यो ॥
दुर्विनीत कुलरिपु ! अधम ! बोल्यो विष उगिलत वचन ।
बोलि विष्णु तेरो कहाँ, पठऊँ तोकूँ यमसदन ॥

साधारण नियम यह है, कि बड़े आदमी-प्रतिष्ठित पुरुष स्वयं न तो अपने हाथों से किसी को मारते हैं. और न कोई

---

* हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से कह रहा है—"हे मन्द भाग्य ! तू जिस जगदीश्वर को कह रहा है, यदि वह मुझसे कोई भिन्न दूसरा है तो उसे बता । वह कहाँ रहता है । तू कहता है वह सर्वत्र है, तो इस खम्भे में दिखाई क्यों नहीं देता ?"

साधारण दंड देते हैं। केवल सेवकों को आज्ञा भर दे देते हैं। कारण कि उन्होंने अपने छोटे से कोई बात कही उलट कर उसने भी बात कह दी या मारने को प्रहार करने को उद्यत हो गया, तो बड़े लोगों का इसमें घोर अपमान है, किन्तु जब बड़े लोग अत्यधिक क्रोध में आते हैं, तो स्वयं उसे मारने लगते हैं। जैसे अत्यन्त प्रेम में प्रेमी की स्वयं ही छोटी से छोटी सेवा किया करते हैं। सामान्यतया पुत्र और शिष्य को स्वयं ही दन्ड दिया जाता है, किन्तु न्यायाधीश के आसन पर बैठ कर सम्मुख जो भी अभियुक्त आवे, वह चाहे अपना सगा सम्बन्धी हो, सब को नियमानुसार ही दन्ड देना चाहिये।

नारदजी महाराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लाद जी पर नियमानुसार राजद्रोह का—राजाज्ञा उल्लंघन का—अभियोग चलाया गया था। किन्तु हिरण्यकशिपु तो स्वयं ही उनसे द्वेष करता था। वह प्रह्लाद जी के मुख से भगवान् के गुणगान सुनते सुनते ऊब गया था, अतः अब उसने अन्य किसी से दन्ड दिलाना उचित न समझा, अब वह स्वयं ही प्रह्लादजी को दन्ड देने को उद्यत हो गया। जब उसके पूछने पर प्रह्लादजी ने बताया मुझे भगवान् विष्णु का बल है। मुझे क्या सम्पूर्ण जगत् का और आपको भी उन्हीं का बल है।" तब तो वह दाँत किटकिटा कर अत्यन्त ही क्रोध के साथ प्रह्लादजी से कहने लगा—"अरे, मूर्ख! प्रतीत होता है, तेरा अब अन्त काल अत्यन्त ही निकट आ गया है। जो मरने वाला होता है उसकी बात कुपित हो जाती है। वात के वेग में वह अंट वंड असम्बद्ध बातें बकने लगता है। कुछ का कुछ कहता है। तू बार बार कह रहा है जगदीश्वर रक्षा करते हैं जगदी-

श्वर पालन करते हैं। क्या मेरे अतिरिक्त कोई संसार में और भी जगदीश्वर है ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"हाँ, है।

क्रोध से दैत्य ने पूछा—"कहाँ है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—सर्वत्र है।"

झुँझलाकर दैत्य ने पूछा—सर्वत्र कहाँ, मूर्ख ?

प्रह्लाद जी ने कहा—"सर्वत्र अर्थात् सब स्थानों में मुझमें तुम में, खड़ग खम्भ में, वृक्ष में लता में गुल्म में ?

बीच में ही हिरण्यकशिपु ने पूछा—"क्या इस पत्थर के खम्भे में भी तेरा ईश्वर है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"पिता जी ! मैं कह तो रहा हूँ, वे सब में समान रूप से व्याप्त हैं यदि सब में हैं, तो इस खम्भे में भी होंगे ?"

अत्यन्त क्रोध के स्वर में हिरण्यकशिपु ने कहा—"होंगे नहीं। यह बता हैं या नहीं ? तुझे दीखते हैं या अनुमान ही लगा रहा है ? मुझे ठगना नहीं सच सच बता, जो प्रत्यक्ष देखता हो उसी को कह ?

सत्यवादी प्रह्लाद जी अब क्या कहते। हिरण्यकशिपु का क्रोध पराकाष्ठा को पार कर गया था, उसका हरि सम्बन्धी द्वेष सीमा को भी उल्लंघन कर गया था। इधर प्रह्लादजी का प्रेम भी चरम सीमा पर पहुँच गया था। भगवान् साधारण

स्थिति में प्रकट नहीं होते। जिन्हें खाने पीने में संसारी सुखों में ही सुख मिलता है, जिन्हें अपनी साधारण स्थिति पर सन्तोष हैं, वहाँ भगवान् शीघ्र प्रकट नहीं होते । जहाँ अत्यंत काम भाव से, अत्यंत क्रोध भाव से, अत्यंत द्वेष भाव से, अत्यंत भय से, अत्यंत स्नेह से मनुष्य सीमा का उल्लंघन कर जाता है। इन भावों को पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है, वहाँ तुरंन्त श्रीहरि प्रकट हो जाते हैं।

प्रह्लादजी ने अब एकाग्रचित्त से भव भयहारी भगवान् को अत्यंत करुणा के सहित पुकारा सम्पूर्ण चित्त की वृत्तियों को बटोर कर मन को उन्हीं में तल्लीन करके भगवान् की कृपा का, उनकी सर्वव्यापकता का अनुभव किया। भगवान् तो भक्त के वश में हैं। सच्ची पुकार के पीछे दौड़ने वाले हैं। प्रह्लादजी ने अनुभव किया कि खम्भ में से भगवान् झाँक रहे हैं और अपनी विकराल मूर्ति से अट्टहास कर रहे हैं।" प्रह्लादजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने चौंककर चिल्लाकर दृढ़ता के स्वर में दैत्यराज से कहा—"पिताजी! मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, भगवान् वासुदेव इस खम्भ में अवश्य हैं। साकार स्वरूप से विराजमान हैं।

हिरण्यकशिपु भी प्रह्लाद के ऐसे दृढ़ बचनों से कुछ संभ्रम में पड़ गया और उस खम्भ की ओर ध्यान से देखने लगा, किन्तु उसे खम्भ के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही न देता था।

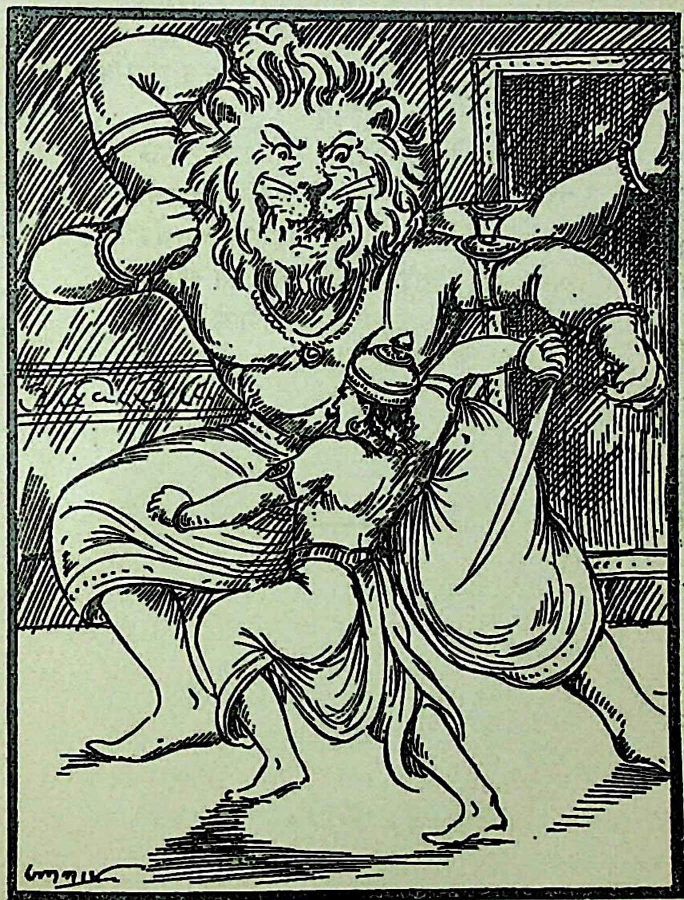
तब तो वह रोष के स्वर में बोला—"नीच ! तू मुझे भुलाना चाहता है। आज मैं तेरा सिर धड़ से पृथक करूँगा, देखें तेरा भगवान् तुझे कैसे बचाता है।" अब तू अपने उस सर्वज्ञ ईश्वर को याद करले। अब वह आकर तेरी रक्षा करे तुझे मेरे हाथ से बचावे।"

प्रह्लादजी इस धमकी से न तो डरे ही न विचलित ही हुए। अब प्रत्यक्ष देखा भगवान् भयंकर रूप से खम्भ में जीभ लपलपा रहे हैं उसे ऐसा लगा मानों भगवान् क्रोध करके दैत्यराज का नाश करने के लिए उद्यत हैं वे चिल्ला उठे—"पिता जी ! खम्भ में भगवान् प्रत्यक्ष विराजमान हैं, आप उनसे अपनी रक्षा करें।"

इतना सुनना था, कि वह महादैत्य दाँत किटकिटा कर क्रोध से आँखों को लाल लाल किये अपने आसन से शीघ्रता के साथ उठ खड़ा हुआ और प्रह्लादजी को बारम्बार धिक्कारता हुआ तुरंत सिंहासन से कूद पड़ा। और बोला—"अच्छी बात है, आज मैं तुझे और यदि मेरे सामने आ जाय, तो तेरे विष्णु दोनों को ही इस चन्द्रहास खड्ग के घाट उतारूँगा। पहिले मैं तेरे विष्णु को ही देखता हूँ—बोले, हैं इस खम्भ में ?"

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! इतना कह कर खड्ग निकाल कर प्रह्लादजी के ऊपर झपटा।" प्रह्लादजी ने फिर कहा—हाँ हैं ?

अब तो हिरण्यकशिपु अपने को सम्हाल न सका। उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े वेग से एक मुक्का उस



खम्भे में मारा। दैत्यराज के जिस मुक्के से पृथ्वी फट जाती थी, उस मुक्के का खम्भा पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। यही

नहीं उसमें से एक अत्यन्त भयानक शब्द हुआ। जिसकी प्रतिध्वनि तीनों लोकों में भर गई। लोक पाल घबड़ा गये। ब्रह्माजी डरकर वेद पढ़ने लगे ऋषिगण स्वस्ति स्वस्ति कहने लगे। सबको ऐसा प्रतीत हुआ मानों ब्रह्मांड कटाह फट गया हो।

छप्पय

विष्णु कहाँ रे! दुष्ट ताहि यम सदन पठाऊँ।
यत्र तत्र सरवत्र कहाँ हौं तिन्हें बताऊँ॥
मो में? हाँ, का सभा मांहि? हैं अवसि तहाँऊँ।
खम्भ मांहि? कहि दई पिताजी! रहे वहाँऊँ॥
सुनि सिंहासन से उठ्यो, खम्भ मांहि घूंसा दयो।
तुरत तहां तैं भयंकर, सिंहनाद भीषण भयो॥

भगवान् नृसिंह का प्रादुर्भाव

(४८५)

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥*
(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

प्रकटे हुँ हुँ करत फिरत गरजत अरु तरजत ।
वदन महा विकराल क्रोध तैं अंग अंग फरकत ॥
सिर तो सिंह समान शेष धड़ नर सम सुन्दर ।
लपलपात अति जीभ भयंकर मुख जनु कंदर ॥
जन्तु विचित्र निहारि खल, नहीं डर्यो न ठाढ़ौ रह्यो ।
हरि मायावी है जिही, दैत्यराज हँसि के कह्यो ॥

भगवान् अजन्मा हैं, फिर भी भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये जन्म लेते हैं। उनका कोई रूप नहीं, फिर भी अपने

---

*नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! अपने सेवक प्रह्लादजी के कथन को सत्य बनाने के निमित्त तथा सम्पूर्ण भूतों में अपनी व्यापकता दिखाने के निमित्त उसी सभा में उसी खम्भे के बीच से भगवान् अत्यद्भुत रूप को धारण किये प्रकट हुए। वे न तो पूरे सिंह थे न मनुष्य ही।

आश्रितों के सन्तोष के निमित्त नाना रूप धारण करते हैं। भगवान् सबके माता पिता हैं उनका न कोई जनक है न जननी, फिर भी वे शरणागतों की इच्छा पूर्ति के लिये किसी के पुत्र कहलाते हैं, किसी के यहाँ अवतरित होते हैं। उनके लिये चर अचर सभी एक से हैं, किसी में कुछ भी भेद भाव नहीं। वे सूकर भी बन जाते हैं। कच्छ मच्छ, हंस और आधे सिंह और आधे मनुष्य भी बनजाते हैं। कहीं वे किसी भाग्यवती स्त्री की गोद में क्रीड़ा करते हुए उनके पुत्र कहलाते हैं, तो कहीं खम्भ को ही अपना पिता माता बना लेते हैं उन्हें तो भक्तों को सन्तुष्ट करना है, वे क्षेत्र और बीज की ओर नहीं देखते। सब के आदि बीज तो वे स्वयं ही हैं। प्रकृति उनकी चेरी है अतः भक्तों के लिये वे चीर में ही बढ़ने लगे हैं। खम्भ फाड़के ही निकल आते हैं। भक्तों ने भगवान् को अपने आधीन कर रखा है।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु ने सभा के बीच में लगे खम्भ में मुष्ठि प्रहार किया, तो उसमें जो शब्द हुआ वह ऐसा लगा मानों यहाँ ब्रह्माण्ड कटाह फट गया हो। ब्रह्मलोक में बैठे ब्रह्माजी चकित होकर इधर उधर देखने लगे। उन्होंने सोचा—"यह कुसमय में प्रलय कहाँ से हो रही है। अभी तो प्रलय का समय नहीं।

क्रोध में भ्रकुटि ताने दाँतों से ओंठ को काटते हुए असुर ने भी उस भीषण अत्यद्भुत घोर शब्द को सुना, समीप में बैठे दैत्यगण उस असह्य घोररव को सुनकर थर थर काँप रहे थे, किन्तु उन्हें इसका कुछ कारण न जान पड़ा दैत्य चकित होकर खम्भ की ओर देख रहा था, किन्तु यह शब्द किसका है,

उस शब्द के आधारभूत व्यक्ति के दर्शन उसे नहीं हो रहे थे। सहसा उस खम्भ में से ही चतुर्भुज भगवान् विष्णु प्रकट हो गये।"

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा—"प्रभो ! निर्जीव खम्भ में से भगवान् क्यों प्रकट हुए, उन्हें अवतार ही लेना था, तो किसी जीव जन्तु के यहाँ लेते। खम्भ को बाप बनाना तो उचित नहीं।"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और बोले—"महाराज ! भगवान् का कौन बाप दादा हो सकता है। वे ही सबके दादाओं के भी दादा हैं। जड़ चैतन्य का भेद तो हम अज्ञ पुरुषों के लिये है। उनके लिये कौन जड़ है, कौन चैतन्य। इस समय खम्भ से प्रकट होने के उनके कई कारण थे। पहिला कारण तो यह था, कि हिरण्यकशिपु ने वरदान माँगा था कि मैं देवता, असुर, पशु, पक्षी आपके बनाये किसी जाति के जीव से न मरूँ। यदि भगवान् किसी योनि से उत्पन्न होते तो उसी के पुत्र कहलाते। आधे सिंह और आधे नर होने पर भी यदि मानवीय योनि से या सिंहिनी के गर्भ से प्रकट होते तो मनुष्य या सिंह कहलाते। अब खम्भ से उत्पन्न हुए, तो खम्भ के तो पुत्र होते नहीं अतः खम्भ से उत्पन्न होकर मानों उनके वर को सत्य किया। दूसरा कारण यह भी है कि प्रह्लादजी ने कहा—इस खम्भ में भगवान् हैं। भगवान् अपनी प्रतिज्ञा तो मिथ्या कर सकते हैं, किन्तु भक्त की प्रतिज्ञा के लिये तो वे सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं। मेरे भक्त का कथन मिथ्या न हो, इस हेतु वे खम्भ से प्रकट हुये। तीसरा कारण यह भी हो सकता है, लोग भगवान् को परिच्छिन्न न समझें कि वे क्षीरसागर, वैकुण्ठ, साकेत अथवा

श्वेत द्वीप आदि में ही रहते हैं। दैत्य दानव तथा समस्त प्राणी जानलें कि श्रीहरि सर्वत्र सम्पूर्ण प्राणियों में समान रूप से व्याप्त हैं। उनके लिये जड़ चेतन, पत्थर, काष्ठ, देह, सभी समान हैं।

इस प्रकार खम्भ में से निकलकर भगवान् इस दैत्य के सम्मुख निर्भय होकर खड़े हो गये। उस समय की उनकी शोभा अद्भुत थी। उस समय श्रीहरि का यह विश्ववन्दित विग्रह सौम्य नहीं था। वे अत्यन्त भयानक रूप में प्रकट हुये थे। उनका सिर बालों से आवृत गोल गोल था। मस्तक चौड़ा था चिपटे हुए नथुनों से बार-बार निःश्वास छोड़ रहे थे। उनके दोनों बड़े-बड़े विशाल नेत्र क्रोध के कारण तपाये हुए सुवर्ण के समान लाल-लाल तथा भयानक हो रहे थे, वे बिजली के पिण्ड के समान चमक रहे थे। ऊपर का ओठ मोटा और भयंकर था। उसमें लम्बे-लम्बे बाल मूछों के स्थान में इधर-उधर हिल रहे थे। पर्वत की गुफा के समान उनका भीषण और भय उत्पन्न करने वाला मुख था। जिसमें खूँटा के समान नुकीली अत्यन्त तीक्ष्ण दाढ़ें दमक रहीं थीं। पैंतरा के साथ हिलती हुई खड्ग के समान लपलपाती हुई जिह्वा से वे ओठों को बार-बार चाट रहे थे, टेढ़ी भृकुटियों के कारण उनका मुख मण्डल ऐसा लगता था मानों साक्षात् क्रोध ही मुख का रूप बनाये प्रकट हो गया हो। ऊपर की ओर खड़े हुए बड़े-बड़े बालों से ढके हुए दोनों कान ऐसे लगते थे मानों दो शंकु घास में छिपे हों।

उनका मुख फटा हुआ था, मानों तीनों लोकों को निगलने का उपक्रम कर रहे हों। उनके नासिकापुटों से निकली हुई उष्ण सांस ऐसी लगती थी मानों जगत् को भस्म करने के प्रलयानिल वह रहा हो। वे साधारण सिंह के समान १०।५ हाथ के नहीं थे। सभा मन्डप की छत को फाड़ कर उनका मस्तक मानों स्वर्ग को छूने के लिये उत्सुक हो रहा हो। उनकी ग्रीवा के बड़े बड़े सुन्दर सुनहले वाल हिल रहे थे मानों वे भी नृसिंह प्रभु की चेष्टा को न समझ कर भय के कारण थर थर काँप रहे हों। मनुष्य के समान उनका वक्षस्थल—विशाल और उन्नत था। उसमें श्रीवत्स का लांछन शोभा दे रहा था, किन्तु कोमलाङ्गी लक्ष्मीजी को इस क्रोध मूर्ति के सम्मुख गति नहीं थी। कन्धे के बालों से ढके हुए उनके स्तन द्वय घास से ढके दो छोटे पर्वत शिखरों के समान उन्नत थे। उनका उदर कृश था। सम्पूर्ण शरीर पर चन्द्र किरणों के समान श्वेत रोमावलि फैली हुई थी। उनके दो नहीं चार नहीं आठ नहीं अनेकों भुजायें थी। आज उनके हाथ में न प्यारी गदा थी न शत्रु संहारी सुदर्शनचक्र ही था। आज तो उनके बड़े बड़े तीक्ष्ण नख ही समस्त आयुधों का काम दे रहे थे। आज उन्होंने अपने को श्रीविग्रह ऐसा उग्र और दुरासद बना लिया था कि किसी का भी साहस उनके समीप तक जाने को नहीं होता था। आज सब दूर से ही भयभीत हुए उनकी असौम्य मूर्ति के दर्शन कर रहे थे। जिनके अस्त्र

शस्त्रों ने प्राचीन काल में असुरों के उष्णरक्त का पान किया था, आज उसी के लिये उनके अनेकों वज्र के समान नख लालायित हो रहे थे। वे सहसा खम्भ फाड़कर सबके सम्मुख प्रकट हो गये थे। हिरण्यकशिपु हाथ में तलवार लिये किंकर्तव्यविमूढ़ बना खड़ा था। वह सोच रहा था—"हो न हो यही मायावी विष्णु है यह माया बनाने में बड़ा पटु है सबसे बड़ा मायावी और बहुरूपिया है जब जैसा चाहता है तब तैसा ही रूप बना लेता है। इसी ने अनेकों शस्त्रों से असुरों को पछाड़ा है, इसी ने सूकर रूप बना कर मेरे लघु भाई को मारा है यह मुझे भी मारना चाहता होगा, किन्तु मुझे क्या मारेगा स्वयं ही मर जायगा। स्वयं ही मृत्यु का कवल बन जायगा इसके शौर्य, तेज, बल, पराक्रम से मेरा क्या बिगड़ सकता है। मुझे यह क्या क्षति पहुँचा सकता है?"

हिरण्यकशिपु ने साहस नहीं छोड़ा, वह भयभीत नहीं हुआ। हाथ में गदा लेकर वह भगवान् नृसिंह के ऊपर प्रहार करने को दौड़ा, किन्तु वह उन चराचर के स्वामी पर क्या प्रहार कर सकता था। पतंगा अग्नि को बुझाने के लिये दौड़े, तो अग्नि को वह क्या बुझावेगा, स्वयं ही जलकर भस्म हो जायगा। जिस प्रकार रात्रि का दीपक सूर्य के उदय होते ही भगवान् मरीचि माली के सम्मुख आते ही प्रभाहीन और तेज रहित हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् नृसिंह के तेज के सम्मुख हिरण्यकशिपु का तेज फीका पड़ गया। जैसे जुगनू का तेज रवि के उदय होने पर उसमें मिल जाता है, उसी प्रकार वह असुर निष्प्रभ होकर भगवान् के तेज में विलीन सा हो गया। भगवान् के तेज से ही चराचर विश्व के तेजस्वी पुरुष तेजोवान् बने हुए हैं सृष्टि के आरम्भ में प्रलय

कालीन तम को पान करके ही तो इन्होंने जगत को प्रकाशित किया है असुर का तेज भी प्रभुदत्त ही तेज है । जब स्वयं



साक्षात् प्रभु ही प्रकट हो गये तो अंश अंशी में मिल गया।

दैत्य तेजहीन हो गया।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! अब असुर ने सम्मुख खड़े हुए भगवान् नृसिंह से भयङ्कर युद्ध करने का निश्चय किया।

छप्पय

मायावी तू विष्णु मारि वे मोंकूँ आयो।
बहुरूपी सुर अधम आजु अस वेष बनायो॥
तकिकें मारूँ गदा धरनि पै तोइ गिराऊँ।
मिल्यौ बहुत दिन माहि बन्धुऋण आजु चुकाऊँ॥
यौं कहि दौरयो गदा लै, अट्टहास नरहरि करयो।
प्रभु के बल युत तेज महँ, खल पतङ्ग समगिरि परयो॥

हिरण्यकशिपु और नृसिंह भगवान् का युद्ध

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभि—
अरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणम्,
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥❀
(श्री भा० ७ स्क० ८ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

ज्यौं ई दौरयो दैत्य पकरि नरहरि ने लीन्हौं।
छुटपटाइ कें यत्न निकसिवे को बहु कीन्हौं॥
श्री हरि लीला करी ढीलि दीयो छुटि भाग्यो।
जानि असुर कूँ बली सुरनि अति विस्मय लाग्यो॥
हरि हाथनि तैं निकसि कें, वेग सहित इत उत फिरै।
नीचे ऊपर उछरि कें, रन कौतुक बहु विधि करै॥

अहंकार ही हिरण्यकशिपु है, उसकी सात्विक वृत्ति से

❀ नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जिस प्रकार बाज पक्षी वेग के साथ ऊपर नीचे आता जाता है उसी प्रकार ढाल तलवार के पैतरे बदलते हुए, निरन्तर ऊपर नीचे उछलते कूदते उस महादैत्य हिरण्यकशिपु को महान् पराक्रमी नृसिंह भगवान् ने उच्चस्वर से प्रचण्ड अट्टहास करते हुए पकड़ लिया। भगवान् के साहस प्रहार तथा सिंहनाद से उसकी आँखें मिचगईं।

विवेक रूप पुत्र उत्पन्न होता है। जब वह अहंकार तमोगुण से व्याप्त होकर विवेक को दबाना चाहता है, तो नाना प्रकार की यातनाओं की—भाँति भाँति के कुविचारों की सृष्टि करता है। किन्तु प्रह्लाद रूप विवेक प्रबल हुआ और उसके शम, दम, तितिक्षा, त्याग, वैराग्य रूप साथी दृढ़ हुए तो वह प्रबल हो जाता है। वह सब भूतों में अपने इष्ट का अनुभव करता है। हिरण्यकशिपु रूप तमो जन्य अहंकार उसे अधिक कष्ट देता है तो उसे दीनता आती है उससे ज्ञान रूप नृसिंह उत्पन्न होकर तम रूप अज्ञान का नाश कर देते हैं। भक्त रूप विवेक की विजय हो जाती है। इस हिरण्यकशिपु रूप अज्ञान के वध का जो रहस्य समझता है, वह कभी मोह को प्राप्त नहीं होता।

धर्मराज युधिष्ठिर से देवर्षि नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु ने अपने काल रूप श्रीहरि को सम्मुख देखा, तब तो वह गदा लेकर भगवान् के ऊपर झपटा। भगवान् उसकी धृष्टता को देखकर हँस पड़े। उन्होंने एक झपट्टे में असुर को गदा सहित पकड़ लिया और बोले—"कहो, बच्चाजी! अब क्या कहते हो?"

असुर ने उनकी बात अनसुनी करके अपना सम्पूर्ण बल लगाया और भगवान् के हाथ से छूटने का प्रबल प्रयत्न करने लगा। जिसे भगवान् ने पकड़ लिया है, वह भला कितना भी चाहे, तो कैसे छूट सकता है। किन्तु भगवान् तो कौतुकी ठहरे उन्हें क्रीड़ा अत्यधिक प्रिय है, अतः क्रीड़ा करने के निमित्त उन्होंने असुर को ढीला कर दिया। जैसे बच्चे को प्रसन्न करने को पिता अपने आप उसे ढीला कर देते हैं और बच्चा गोद से निकल कर भाग जाता है, तो वह बड़े गर्व से कहता है—

"देखो, मैं अपने बल पुरुषार्थ से निकल आया।" उसी प्रकार उस असुर का अभिमान और बढ़ाने को हरि भगवान् ने उसे शिथिल कर दिया। असुर झट से उनके हाथ से ऐसे ही निकल भागा, जैसे बिल्ली के मुख से चूहा निकल भागता है, अथवा गरुड़ के पंजे से सर्प निकल भागता है, अथवा कारावास के सीकचा से वन्दी निकल जाता है, अथवा सिंह के मुख से मृग निकल जाता है। इस प्रकार जब प्रभु के पंजे से वह दैत्य निकल गया, तो अंतरिक्ष में अपने-अपने विमानों पर बैठे हुए लोकपाल हाय-हाय करने लगे। उन्होंने सोचा—"जब यह असुर भगवान् के भी हाथ से छूट गया, तब तो इसका वध अत्यन्त ही कठिन है।" भगवान् उन सब लोकपालों को शंकित और भयभीत देखकर हँस रहे थे। इधर हिरण्यकशिपु का अभिमान भी और बढ़ गया। वह सोचने लगा—"देखो, मैं कैसा बली हूँ, इस मायावी विष्णु के हाथ से भी छूट आया! अब तो मैं इसका वध ही करके छोड़ूँगा।"

नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! अब तो वह दैत्य श्रम, ग्लानि, विकलता सभी को भुलाकर भगवान् के ऊपर झपटा। अब उसने गदा को तो फेंक दिया। हाथ में ढाल तलवार लेकर वह रणरंग दुर्मद युद्ध करने को उद्यत हुआ। भगवान् तो युद्ध करने के लिये ही अवतार लेते हैं, क्षीर सागर में सोते-सोते या वैकुण्ठ धाम में आनन्द विहार करते-करते जब ऊब जाते हैं, तभी किसी न किसी अपने निज जनको निमित्त बनाकर विपक्ष की स्थापना करते हैं, फिर स्वपक्ष बनकर स्वयं अवतरित होते हैं। तब हँसते हैं, खेलते हैं, दौड़ते हैं, मारते हैं, मार खाते हैं, जितनी सब लोकवत् लीला होती है सब करते हैं। कच्छपावतार में एक दैत्य को ही लेकर डूब गये इतने बड़े मन्द-

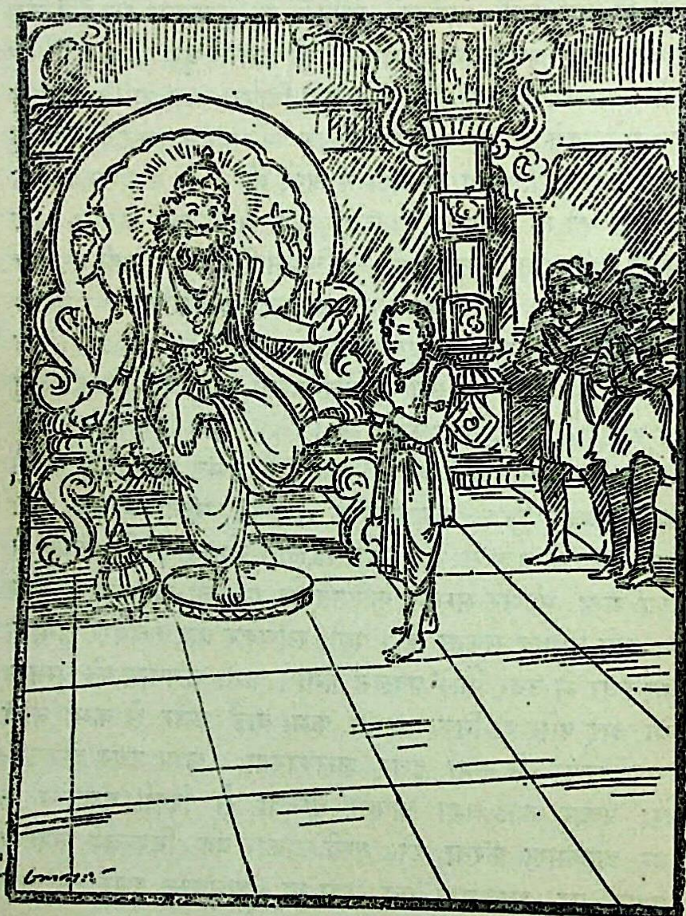
राचल पर्वत की रगड़ को यही समझा मानों कोई मेरी पीठ को सुहला रहा है। मत्स्यावतार में पाताल में जाकर दैत्य को मार-कर वेदों का उद्धार किया। लक्षोंवर्ष प्रलय के एकार्णव जल में घूमते रहे। वाराह अवतार में हिरण्यकशिपु से द्वंद्व युद्ध किया नाना पैंतरे दिखाकर उसे पछारा। वामनावतार में ब्राह्मण बन कर भी बलि को बाँधा और उसके अनुचर जब अस्त्र-शस्त्र लेकर इनके ऊपर टूटे, तब उनसे भी मनमाना युद्ध किया। इन्द्र के साथ उपेन्द्र बनकर असुरों से घोर युद्ध किया। परशुरामावतार में तो कुछ पूछिये ही नहीं, युद्ध का प्रलयंकारी दृश्य दिखला दिया। ब्राह्मण भी ऐसी क्रूरता से युद्ध कर सकता है, यह एक नूतन विचित्र बात दिखाई। २१ बार सम्पूर्ण पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना दिया। रामावतार में तो पैदा भी अपने आयुधों के ही साथ हुए और पृथ्वी भर के राक्षसों को मार डाला, विभी-षणादि कुछ भक्त राक्षसों को छोड़कर लोक को रुलाने वाले रावण का उसके बन्धु, बान्धव, कुल, परिवार तथा सैनिकों के साथ संहार किया। वीरता का सजीव दृश्य दिखा दिया। कृष्णावतार का तो कुछ कहना ही नहीं। जब दुध मुँहे बच्चे थे तभी से जो मार धाड़ आरम्भ की, कि अन्त में अपने परिवार वालों को भी मार पीट कर अन्त में स्वधाम पधारे। व्रज में जब तक रहे पूतना, केशी, धेनुकासुर, अघासुर, बकासुर, तथा वत्सासुर आदि असुरों को लात घूँसा और मुष्टियों से ही मार गिराया। मथुरा पहुँचकर अपने आयुधों का स्मरण किया, फिर तो औरों को लड़ाते भी रहे लड़ते भी रहे। आपके बड़े भाई बल-रामजी तो फिर बड़े ही ठहरे, जहाँ युद्ध का अवसर आया वहीं दौड़े गये। बुद्धावतार को छोड़कर जितने भी अवतार हुए मार धाड़ के और युद्ध भूखे प्यासे रहे। कल्की अवतार तो दुष्टों

का विनाश करने के लिये होता ही है। वह तो घोड़े पर चढ़ कर स्वयं ही अधार्मिक दुष्टों का विनाश नहीं करते अपितु अपने घोड़े की टाप से ही असंख्यों पापियों को कुचलवा देते हैं। जब भगवान् को युद्ध इतना प्यारा है, तो लोग युद्ध प्रिय हों तो क्या आश्चर्य? तभी तो बड़े बड़े विद्वान् लोग शांति शांति चिल्लाते रहते हैं, युद्ध का हर प्रकार से खंडन करते हैं, किन्तु युद्ध रुकता नहीं, न पहिले रुका न आगे ही रुकने की सम्भावना है। युद्ध ही तो जीवन है। जहाँ युद्ध नहीं वहाँ जीवन नहीं उत्साह नहीं, आगे बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं, विनाश नहीं, उन्नति नहीं, नूतनता नहीं, विजयोल्लास नहीं। इसलिये भगवान् ने सहसा पकड़ कर हिरण्यकशिपु को नहीं मारा। जैसे सिंह अपने आखेट किये हुए मृग से खेल करता रहता है, वैसे ही प्रभु उस असुर से युद्ध क्रीड़ा करते रहे।

हिरण्यकशिपु को अपने बल का घमंड था। वह अपने सामने सबको तुच्छ समझता था। उसने सोचा—"जब मेरी त्वचा इन्द्र के वज्र से भी नहीं छिली। लोकपालों के दिव्य से दिव्य अस्त्र भी मेरे सम्मुख कुण्ठित हो गये, तो यह जंगली जीव मेरा क्या बिगाड़ सकता है। यही सोचकर वह तलवार घुमाता हुआ इधर से उधर पैंतरे बदलने लगा। कभी तलवार को घुमाता हुआ, दाईं ओर से निकल जाता, कभी बाईं ओर से कभी नीचे से कभी ऊपर से कभी इधर ललकारता, कभी उधर दौड़ता। जिस प्रकार कोई बच्चा अपनी धृष्टता से किसी बलवान् के ऊपर आक्रमण करता हो, उसी प्रकार वह निरन्तर नरहरि भगवान् पर आक्रमण कर रहा था। अनवरत इधर से उधर उछल कूद करता हुआ पैंतरे बदल रहा था।

आकाश में स्थित देवतागण डर रहे थे, कि भगवान्

इससे खेल कर रहे हैं, ऐसा न हो कहीं यह प्रहार कर बैठे। प्रह्लादजी चकित चकित नेत्रों से निरन्तर भगवान् को ही



निहार रहे थे। यद्यपि भगवान् भक्तापराध के कारण हिरण्य-

कशिपु पर क्रोधित थे, फिर भी प्रह्लादजी को उनकी मूर्ति सौम्य ही प्रतीत होती थी। जब दीपक बुझने वाला होता है, तो वह पूरी शक्ति लगाकर वेग से जलने लगता है उसी प्रकार अब असुर बल पौरुष की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। तब तो नृसिंह भगवान् ने भयङ्कर अट्टहास करके उसे सरलतापूर्वक अपने तीक्ष्ण नख वाले पञ्जों से पकड़ लिया। इससे दैत्य महाक्रुद्ध हुआ। पूरी शक्ति लगाकर भगवान् के पंजे से निकलने के लिये छटपटाने लगा। किन्तु अबके तो भगवान् ने उसे कस कर पकड़ा था, अबके बिना उसका अन्त किये वे छोड़ने वाले नहीं थे।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! अब असुर ने मनमें समझ लिया कि मेरा अन्त समय आ गया है। उसे ब्रह्माजी के वरों की याद आई और सोचने लगा क्या ब्रह्माजी के वरदान भी असत्य हो सकते हैं? क्या मुझे कोई वरदानों के रहते हुए भी मार सकता है?

छप्पय

कछुक भुलाइ खिलाइ ठठाको मारि हँसे हरि।
गरुड़ सर्प कूँ गहै असुर त्यौं पकरि लयो फिरि॥
छटपटाइ अकुलाइ निकसिवे कूँ तरफै अति।
किन्तु छूटि कस सकै जाइ जेहि पकरैं श्रीहरि॥
परयौ असुर पुनि फंद में, भूल्यो सब फरफंद अब।
सिंहनाद हरि ने करयौ, नेत्र है गये बन्द तब॥

———

हिरण्यकशिपु—उद्धार

विष्वक्स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाखुं कुलिशाक्षतत्वचम् ।
द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया-
नखैर्यथाहिं गरुड़ो महाविषम् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

अति विकराल कराल नयन नरहरि के चमकैं ।
गर्जन तर्जन करैं केश कंधा के दमकैं ॥
लपलपाइ हरि जीभ ओठ कूँ चाटैं पुनि पुनि ।
कापैं सबरे असुर भयङ्कर सिंहनाद सुनि ॥
सभा द्वार सन्ध्या समय, जङ्घा पै धरि नखनि तैं ।
फारयौ नरहरि ने उदर, बच्यौ नहीं विधिवरनि तैं ॥

जीव मरने से डरता है, इसलिये कि इन सांसारिक

---

* धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! नरहरि भगवान् के पकड़ लेने पर उनके पञ्जे से छूटने के लिये सर्प से पकड़ा चूहा जैसे सब ओर से आतुर होकर छटपटाता है ऐसे ही छटपटाने लगा । इन्द्र के वज्र से भी जिसकी त्वचा में खुरसट नहीं आई थी, उसी दैत्यराज को सभा की देहली पर बैठकर अपनी जाँघों पर रखकर भगवान् ने उसे नखों से लीलापूर्वक उसी प्रकार चीर डाला जैसे गरुड़ महाविषधर सर्प को चीर डालता है ।"

विषयों को ही सत्य और सुखप्रद समझ कर सदा इनका सेवन करते रहना चाहता है, किन्तु नाशवान् अमर कैसे हो सकते हैं। असत्य और मिथ्या पदार्थ शाश्वत कैसे सिद्ध हो सकता है। उत्पन्न होने वाले का नाश न हो यह संभव नहीं। इस सत्य को न मान कर जो ब्रह्म में रमण न करके प्राणों में असुरों में ही रमण करते हैं, वे असुर कहलाते हैं। असुर उग्र तपस्या के द्वारा मृत्यु से ही वचना चाहते हैं। तप तो भगवान् का हृदय ही है, तपस्या का फल व्यर्थ तो जाता नहीं। अतः भगवान् मृत्यु रूप में ही प्रकट होकर उनका स्वयं संहार करते हैं। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा जी को प्रसन्न करके कैसे कैसे दुर्लभ वर प्राप्त कर लिये थे। वह समझता था कि विष्णु मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते, मुझे कोई मार नहीं सकता, पराजित नहीं कर सकता, क्योंकि में अजर अमर हूँ। किन्तु यह उसका अभिमान अन्त में मिथ्या ही सिद्ध हुआ।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु अत्यन्त उछल कूद करने लगा और बार बार तलवार घुमाकर प्रभु पर प्रबल प्रहार करने का प्रयत्न करने लगा, तब तो नृसिंह भगवान् ने उसे अपने पंजों से पकड़ लिया। जिस प्रकार विषधर सर्प पैर से कुचल जाने पर क्रुद्ध होता है उसी प्रकार भगवान् के पकड़ लेने पर वह दैत्यराज अत्यन्त ही कुपित हुआ। पूरी शक्ति लगाकर उसने अपने को भगवान् के पञ्जों से छुड़ाना चाहा, किन्तु उसका सब प्रयत्न निष्फल हुआ। अब तो उसे ऐसा लगा मानों मुझे यह मार डालेगा। अतः वह क्रोध के साथ नरहरि भगवान् से बोला "मुझे निश्चय हो गया तू ही मायावी विष्णु है, तैंने ही सूकर

रूप बनाकर मेरे भाई को मार डाला था। क्या तू मुझे मारना चाहता है। नहीं, मुझे तू नहीं मार सकता।"

यह सुनकर नरहरि भगवान् अट्टहास करने लगे। उनके हास की प्रतिध्वनि से तीनों लोक गूंजने लगे। दैत्य डर गया। साहस करके फिर बोला "मुझे मारने की सामर्थ्य तुझमें नहीं है।"

भगवान् हँसते हुए बोले—"क्यों ?"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"इसलिये कि मुझे ब्रह्माजी से अमर होने का वरदान प्राप्त है।"

भगवान् ने कहा—"ब्रह्माजी ने अमर होने का वरदान कब दिया ? संसार में स्थाई अमरत्व तो किसी को प्राप्त नहीं। अपने १०० वर्षों के अनन्तर स्वयं ब्रह्माजी भी बदल जाते हैं। जब उनका पद भी स्थाई नहीं, तो वे तुझे कैसे मृत्यु रहित बना सकते हैं।

असुर ने कहा—"हाँ ! यह बात तो ब्रह्माजी ने भी कही थी, किन्तु मैंने घुमा फिरा कर उन्हें भूल भूलैयों में फँसा कर ऐसे ऐसे दुर्लभ वर प्राप्त कर लिये थे, कि वे सदा अजर अमर होने के ही समान हैं। उन वरों के रहते मुझे कोई मार न सकेगा।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"जैसे भूल भुलैयों में फँसाकर तैंने वर प्राप्त किये थे, वैसे ही भूल भुलैयों में फँसा कर उन वरों को सत्य बनाते हुए मैं तुझे मार डालूँगा। बोल, कौन कौन तेरे वर हैं। पीछे तू यह न कहे, कि ब्रह्मा जी के वरों को मिथ्या बना कर मुझे मार डाला।

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"मुझे यह वर प्राप्त है कि मैं ब्रह्माजी की सृष्टि के रचे किसी प्राणी से न मरुँ। फिर तू मुझे कैसे मार सकता है ?"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"तुझे ब्रह्माजी की सृष्टि से बने जीव से अभय प्राप्त है। मुझे ब्रह्मा ने तो बनाया नहीं। ब्रह्मा को तो मैंने स्वयं बनाया है। ब्रह्मा तो मेरा बेटा है। बाप को बेटा कैसे बना सकता है। अतः मुझसे तू बच नहीं सकता।"

यह सुनकर असुर बोला—"अच्छा, जाने दीजिये आप ब्रह्मजी की सृष्टि से बाहर ही सही। फिर भी मारेंगे तो मुझे इस ब्रह्माण्ड में ही। मुझे वर प्राप्त है, कि मैं न किसी घर के भीतर मरूँ न बाहर। अब तुम मुझे मारोगे कहाँ ?"

यह सुन कर भगवान् राज सभा की देहरी पर जा बैठे और बोले—"अच्छा बता, यह देहली घर के भीतर है या बाहर है ?"

यह सुनकर दैत्य सटपटाया और बोला—"हाँ, यह तो न भीतर है न बाहर। अच्छा, मुझे एक यह भी वर प्राप्त है, कि मैं न दिन में मरुँ न रात्रि में। फिर आप मुझे किस समय मारेंगे ?"

भगवान् ने सूर्य के अस्त होते समय—सायंकालीन सन्ध्या की वेला में कहा—"देखो, अब न तो दिन ही है, क्योंकि सूर्य अस्त हो गये न रात्रि ही है क्योंकि अभी चन्द्र ग्रह नक्षत्र कुछ भी दिखाई नहीं देते। कोई भी इसे न दिन

कहता है न रात्रि सन्ध्या का समय है।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अब महाराज! आप तो माया में मेरे भी बाबा गुरु निकले। इतने सब बचाव करने पर आप सबका निराकरण करते जाते हैं। ब्राबाजी के बनाये जीव तो आप हैं नहीं, किन्तु मैंने एक यह भी वर माँगा था, कि मैं किसी धातु या काष्ठादि के बने अस्त्र शस्त्रों से न मारा जाऊँ। तब आप फिर मुझे मारेंगे किससे ?"

भगवान् अपने बड़े बड़े तीक्ष्ण तीक्ष्ण नख दिखाते हुए बोले—"बताओ, ये किस धातु के बने अस्त्र शस्त्र हैं। कोई भी न इन्हें अस्त्र कहेगा न शस्त्र। इन्हीं से तेरे तरबूजे जैसे पेट को फट से फार डालूँगा।"

हिरण्यकशिपु की कान्ति क्षीण होती जा रही थी उसका साहस टूटता जा रहा था। उसने धैर्य धारण करके कहा—"अच्छा, यह सब तो सत्य ही है, किन्तु आप मुझे मारेंगे कहाँ? मुझे तो वरदान प्राप्त है कि मैं न पृथ्वी पर न मरूँ न आकाश में।"

भगवान् बोले—"देखो, तुम्हारे पैर यदि पृथ्वी पर टिके रहें और हम किसी अस्त्र शस्त्र से मार डालें तो पृथ्वी पर मारना हुआ। तुम आकाश में उड़ रहे हो, वहाँ पकड़ कर जैसे बाज अन्य पक्षी को मार देता है, वैसे मारें तो आकाश में मारना हुआ। मैं दोनों ही प्रकार से न मारूँगा। अपने घुटनों पर लिटाकर तुम्हारा पेट फाड़ूँगा, न पृथ्वी ही पर हुआ न पूरा आकाश में हो।"

हिरण्यकशिपु ने दृढ़ता से कहा—"अच्छा; मारेंगे तो आप

ही। मैंने तो वरदान प्राप्त किया है, कि मैं न नर से मरूँ न मृग से ?"

भगवान् हँसकर बोले—"तेरी आँखें फूट गई हैं या बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। तू देखता नहीं, मुझे कौन मनुष्य कहेगा। और सिंह भी नहीं कह सकता। सिर सिंह का सा, धड़ मनुष्य जैसा। अतः न मैं नर हूँ न सिंह मिला जुला खिचड़ी के समान हूँ। कुछ नर कुछ सिंह इसीलिये मेरा नाम है नृसिंह।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"एक वर मुझे ऐसा प्राप्त है, कि उसका निराकरण आप न कर सकेंगे। संसार में दो ही प्रकार की वस्तु हैं चैतन्य और जड़। कुछ प्राणधारी कुछ प्राण रहित। मैं दोनों से ही अवध्य हूँ। न मेरा मृत्यु प्राणहीनों से हो सकती है न प्राणधारियों से।"

भगवान बोले—"जिनमें प्राण नहीं वे बढ़ते नहीं चैतन्यता नहीं होती और जो प्राणधारी है, उनमें वृद्धि होती है चैतन्यता दिखाई देती है, काटने से कष्ट होता है। ये नख जड़ हैं या चैतन्य। यदि जड़ हैं तो बढ़ते क्यों हैं, यदि अन्य अङ्गों की भाँति सजीव हैं तो जैसे उँगली आदि काटने से कष्ट होता है वैसे नख काटने से कष्ट क्यों नहीं होता। अतः ये नख जड़ भी हैं चैतन्य भी हैं। पूरे जड़ हैं न पूरे चैतन्य अतः ये ही तेरे प्राणों का अन्त करेंगे।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"मैं तो देवता, असुर, नाग, किन्नर, यक्ष गन्धर्व आदि सभी जाति के उपदेवों से अवध्य हूँ।" ऐसा वर मुझे प्राप्त है।"

भगवान् बोले—"मैं न देवता, न यक्ष, न गन्धर्व, न

मनुष्य, न पशु, न पक्षी मैं तो जो हूँ सोई हूँ। इसलिये असुरराज अब तुम बच नहीं सकते। बचाव तो तुमने बहुत किये किन्तु उन सबको मैं निष्फल कर दूँगा। आज तुझे मारकर मैं अपने भक्तों को निर्भय बना दूँगा, उनके दुःखों को दूर कर दूँगा।

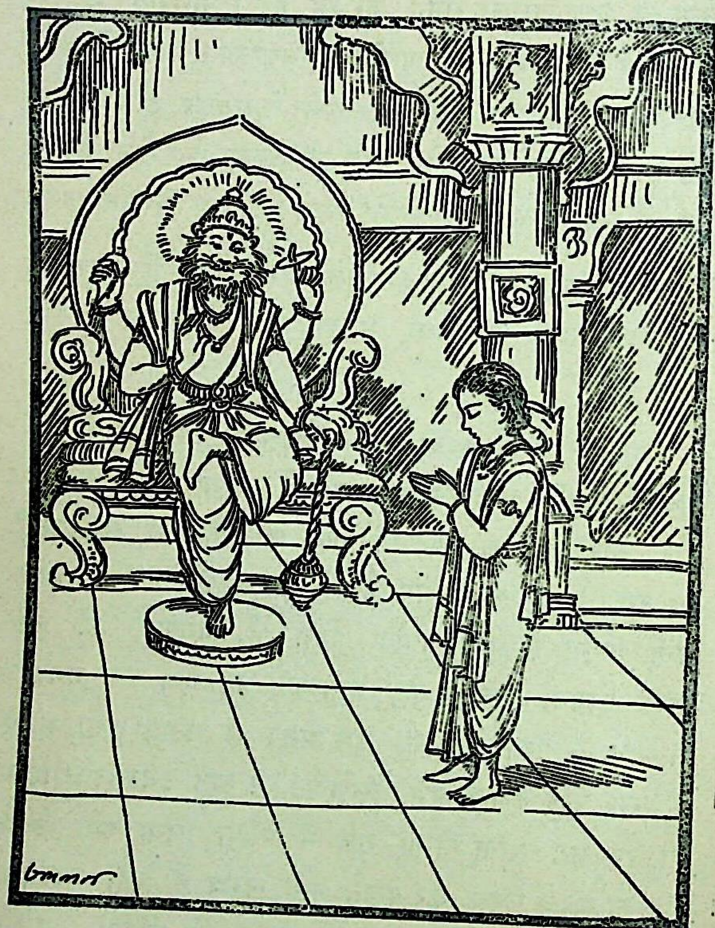
नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! इतना कहकर क्रोध से लाल-लाल नेत्र किये नृसिंह भगवान् ने उसे अपने पञ्जों से पकड़ सभा के द्वार पर टिका, जाँघों पर पटक अपने तीक्ष्ण नखों से उसके फूले हुए पेट को उसी प्रकार फाड़ डाला, जिस प्रकार चटाई बुनने वाला बीच में से ऐरका को फाड़ देता है। अथवा गरुड़ जैसे बड़े भारी विष-धर सर्प को चीर देता है, अथवा सिंह जैसे हाथी का पेट फाड़ देता है अथवा बच्चे जैसे कुहड़े को चाकू से चीर डालते हैं।

भगवान् ने हिरण्यकशिपु के पेट के टुकड़े करके उसमें अपने तीक्ष्ण नख वाले कर्कश कर डालकर उसकी आँतों को निकाल लिया। आँतों के निकलने से तथा पेट के फटने से रक्त की पिचकारियाँ छूटने लगीं, मानों नृसिंह भगवान् से दैत्य का शरीर होली खेल रहा हो। उस समय टेसू के रंग से रंग रसिया के समान, गुलाल लगाये होली के रंगीले के समान श्रीहरि शोभित हुए। रक्त की बिन्दुओं से उनके बड़े-बड़े सुनहले बाल बिंदकी वाली कुसुम्बी चूँनरी के समान शोभित हो रहे थे। लाल-लाल मुख पर, क्रोध से आरक्त नेत्रों पर पड़े हुए रक्त बिन्दु ऐसे प्रतीत होते थे, मानों किसी ने चन्दन से श्री मुख पर पत्रावली की रचना की हो। रक्त से रंजित वे कंधे के बाल जब हिलते थे, तो ऐसा लगता था मानों वे उसकी

मृत्यु का हिल-हिलकर समर्थं कर रहे हों । भगवान् ने दैत्य के पेट से रक्त में रंगी हुई आँतों को निकालकर माला के स्थान पर उन्हें गले में पहिन रखा था, इससे वे भयंकर होने पर भी बड़े सुहावने लगते थे । वे आँतों को निकाल कर फिर दैत्य के पेट में हाथ डाल कर नखों से उसके पेट को खुरचने लगे ।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग ! हिरण्यकशिपु को मार देना ही पर्याप्त था, भगवान् ऐसा वीभत्स कृत्य क्यों करने लगे ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग ! भगवान् तो सर्व-गत हैं, सबमें समान रूप से व्याप्त हैं। शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर भयानक, अद्भुत शांत और वीभत्स सब उन्हीं के रस हैं। वे सर्वरसमय हैं। वे ही रस हैं। सबका प्रदर्शन उन्हें करना है ऐसा प्रतीत होता है, भगवान् को कुछ संदेह होगया। सम्मुख खड़े प्रह्लादजी को देख कर भगवान् ने सोचा—"ऐसा भक्त रत्न इस असुर से उत्पन्न हुआ, संभव है ऐसा कोई दूसरा रत्न उसके पेट में कहीं इधर उधर छिपा हो, इसलिये आंतों को तो गले में पहिन लिया और उसके पेट को खुरच खुरच कर देखने लगे, संभव है कहीं दबा ढका ऐसा एक रत्न और मिल जाय तो प्रह्लाद के सहित उसेभी मैं अपने हृदय में धारण कर लूँ । दूसरा कारण यह भी है कि इसने मेरे भक्त को बहुत कष्ट दिये थे इसे भी तो ज्ञान



प्रह्लादजी पर नृसिंह भगवान् की कृपा

हो जाय शरीर कटने से कितना कष्ट होता है। तीसरे भगवान् ने सोचा होगा सर्प को काट भी दो तो पूर्व की आयु चलने से वह कटा हुआ भी जी पड़ता है। ऐसा भी देखा गया है, किसी से भूल से सर्प कटा है केवल फण रहा है तो वह फण ही उछलता उछलता उस पुरुष का पता लगाते लगाते उसके घर पहुँच गया है और जूते में छिप कर उसे काट लिया है। यह भी तो विषधर सर्प ही है, यदि इसके पेट में ही तनिक से प्राण शेष रह गये, तो यह पुनः जीवित हो सकता है इसलिए खुरच खुरच कर उसके प्राणों को निकालने लगे।"

नारदजी धर्मराज से कहते हैं—राजन्! जब असुर मर गया, तब भगवान् ने उसे धड़ाम से पृथिवी पर पटक दिया। असुर के मरते ही उसके सहस्रों सेवक और अनुयायी नृसिंह भगवान् को मारने अस्त्र शस्त्र लेकर दौड़े। भगवान् एक दहाड़ मारी और १०-२० को उठाकर उसी रोष में पकड़ कर बीच से फाड़ दिया। अब क्या था सर्वत्र भगदड़ मच गई। बहुत से असुर मर गये और जो बचे थे वे अपने प्राणों को लेकर भागे। कुछ असुर और अस्त्र-शस्त्र और सेना लेकर आये। भगवान् अकेले थे उनके हाथ ही उनके सहायक सैनिक थे। बड़े बड़े तीक्ष्ण नख ही उनके अमोघ अस्त्र शस्त्र थे। इसी के बल पर उन्होंने समस्त असुरों को हरा दिया अब तो कोई भी उनके समीप आने का का साहस न करता था। भगवान् का क्रोध अभी शांत नहीं हुआ था। वे रोष में भरकर सभा मंडपमें इधर से उधर घूमने लगे।

छप्पय

फर्र फारि कैं पेट सर्र ते आँत निकारीं ।
अट्टहास करि गरे माँहिँ माला सम धारीं ॥
रक्त बिन्दु तैं रँगे केश अति सुन्दर लागैं ।
देखि भयङ्कर रूप असुर गन भयतैं भागैं ॥
अस्त्र शस्त्र लै धृष्ट कछु, असुर चले रन हित तुरत ।
नख आयुध तैं मरत कछु, गिरत बचै रन तजि भगत ॥



सिंहासनासीन नृसिंहप्रभु

(४८८)

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने संभृततेजसं विभुम् ।
अलक्षितद्वैरथमत्तर्षणम् ,
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज चश्चन ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

तितिर वितिर घनहोयँ केश नरहरि फटकारें ।
ग्रहगन फीके परैं क्रोध करि जबहिँ निहारैं ॥
प्रलयानल सम स्वाँस नाद सुनि सब डरि जावैं ।
जब पटकैं प्रभु पैर असुर भय तैं मरि जावैं ॥
सिंहासन खाली लख्यौ, जाइ विराजे धम्म तैं ।
यों सेवक हित सर्वगत, प्रकटे नरहरि खम्भ तैं ॥

हमारी स्वाभाविक इच्छा होती है, कि हमारे पूजनीय

---

*धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! अब नृसिंह भगवान् उस सभा में उत्तम सिंहासन पर जाकर विराजमान हो गये । उनका वदन विकराल था, तेज से वे जाज्वल्यमान् थे यद्यपि अब उनकी भयंकर मूर्ति को देखकर कोई उनके समीप नहीं गया ।

श्रद्धेय हमारी पूजा को स्वीकर करें, जो वस्तु हम उनकी सेवा में श्रद्धा से समर्पित करें, उसे हमारी प्रसन्नता के निमित्त ग्रहण करें। हमारी वस्तुओं को बिना भेद भाव के निःसंकोच भाव से अपनावें। गुरुजन प्रायः ऐसा करते भी हैं, अपने आश्रित की प्रसन्नता के निमित्त उसके दिये उपहारों को स्वीकार करते हैं। किन्तु जो भक्त के शिष्य के ऐश्वर्य को अपना ही समझकर उसके वाणी से न कहने पर भी उसका उपभोग करते हैं, तो इसमें अत्यधिक अपनापन सिद्ध होता है, इससे भक्त की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता।

श्री नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! उस हिरण्यकशिपु से सभी ऋषि, मुनि, पितर, सिद्ध, किं पुरुष भूत, वैताल, किन्नर आदि असन्तुष्ट थे। उसका नाम सुनते ही इन सब के मस्तक में पीड़ा होने लगती थी। कोई भी नहीं चाहता था, यह त्रैलोक्य का शासक रहे, किन्तु सभी ब्रह्माजी के वरों से विवश थे, उन्हें अन्यथा बनाने की सामर्थ्य किसमें थी। सभी के वे पितामह ठहरे। सभी उनसे छोटे हैं, किन्तु उनके भी पिता ने आकर जब दैत्यराज को मार डाला, तो सभी के हृदय शीतल हो गये, हिरण्यकशिपु के मर जाने पर देवता हर्षोत्कर्ष के कारण नाचने लगे, देवाङ्गनायें कल्पवृक्षों के पुष्पों को अञ्जलियों से भर भर कर नृसिंह भगवान् के ऊपर बर्षाने लगीं। गन्धर्व गाने लगे ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण, नृहरि भगवान् की स्तुति करने लगे। अन्तरिक्ष में कोलाहल मच गया। देवता ऊपर से उतर उतर कर भूमि के समीप आने लगे, किन्तु मारे डर के भगवान् के समी आने का साहस किसी को नहीं होता था। दूर से ही अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे।

सबसे अधिक प्रसन्नता थी, देवताओं को। क्योंकि हिरण्यकशिपु उन्हीं से अधिक शत्रुता रखता था। उनका तो मानों रामराज्य हो गया। उसके दिये दुःखों से दुखी होकर देवता दयानिधि के धाम क्षीर सागर में गये थे। बड़ी स्तुति विनती की भगवान् ने दो टूँक बात कह दी। अभी उस असुर के मारने का काल नहीं है, जब वह मेरे परम भक्त प्रह्लाद को यातना देगा, तब मैं अवतीर्ण होकर उसे मारूँगा। तभी से देवता प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रह्लाद जी को दैत्य ज्यों ज्यों यातनायें देता, त्यों त्यों देवताओं की आशा बढ़ती जाती थी, कि अब भगवान् अवतार लेंगे, अब प्रभु प्रकट होंगे। आज जब खम्भ फाड़कर—विचित्र वेष बनाकर—विष्णु प्रकट हो गये और असुर को मार कर सिंहानासीन हो गये। तब तो देवताओं के हर्ष से तीनों लोकों में कोलाहल मच गया। वे अपने पटह, दुन्दुभि आदि बाजों को बजाने लगे, अप्सराओं के नृत्य की छम्म छम्म और गन्धर्वों के गान की तिन्न तिन्न से शब्द सुनाई पड़ता था। दर्शनार्थी देवता और उपदेवताओं के विमानों से आकाश व्याप्त था। वे सबके सब हाथ में पुष्पाञ्जलि लिए नृहरि भगवान् की स्तुति करना चाहते थे, किन्तु उनके विकराल बदन और क्रोध से चमचमाती हुई लाल लाल आँखों को देख कर किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता था, समीप जाना तो दूर की बात रही। ब्रह्माजी देवेन्द्र, सदाशिव, अन्य देवगण, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर नाग, मनु, प्रजापति सभी परस्पर में एक दूसरे का मुख देखने लगे। उन सब में ब्रह्माजी बूढ़े थे, किन्तु सम्मुख जाने का साहस उनका भी नहीं होता था। फिर भी सबके सम्मुख अपने भय को प्रकट कैसे होने दें। ये मेरे ही पुत्र पौत्र क्या कहेंगे। यही

सोचकर दूर से ही डंडौत करके वहीं से हाथ जोड़े जोड़े ब्रह्माजी बोले—"हे प्रभो! आपकी अद्भुत शक्ति की कोई सीमा नहीं,



आपका ऐश्वर्य निस्सीम है। आपके कर्म सदा मङ्गलमय और

परम पवित्र होते हैं। आप शिव स्वरूप हैं. आपकी किसी भी चेष्टा से अशिव कार्य होने का संभावना नहीं। आप इस दृश्य प्रपञ्च की उत्पत्ति बिना प्रयास के लीला से ही करते हैं। मुझे उत्पन्न करके सृष्टि कार्य में नियोजित कर देते हैं। स्वयं विष्णु बनकर मेरी रची सृष्टि का पालन पोषण करते हैं, अन्त में स्वयं ही शंकर रूप से उसका संहार भी करते हैं आप आनंद हैं, अच्युत हैं, अव्यय हैं, अविनाशी और अविकारी हैं। आपके पादपद्मों में मैं प्रणत होकर पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।"

ब्रह्मा जी की स्तुति सुनकर सबका साहस बढ़ा। जब ब्रह्मा जी ने दूर खड़े होकर स्तुति करने की प्रथा चला दी। तो सब के सब वहीं दूर खड़े होकर स्तुति करने लगे। सबसे आगे भगवान् ब्रह्मा खड़े थे, जब ब्रह्माजी स्तुति वन्दना कर चुके तब देवाधिदेव महादेव की पारी आइ। वे भी खड़े खड़े हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे।

शिवजी ने देखा, भगवान् अभी तक क्रुद्ध हो रहे हैं उनका क्रोध कम नहीं हुआ तब तो वे अत्यंत ही विनय के साथ साथ स्तुति करते हुए कहने लगे—"हे भक्तभय हारी भगवन्! हम जानते हैं आप काम क्रोधादि विकारोंसे सर्वथा रहित हैं। फिर आप कभी क्रोध करते से दिखाई देते हैं, तो किसी की व्याप्ति के विघात में क्रोध नहीं करते। अपितु, आपका क्रोध केवल भक्तवत्सलता के ही कारण होता है। इस समय जैसे आप क्रोध कर रहे हैं। उसका अभी यह समय नहीं। इस

क्षुद्र दैत्य के कारण इतना क्रोध आप के अनुरूप नहीं है। यदि इस दैत्य पर क्रोध आ भी गया, तो वह तो मर ही गया। कारण नष्ट हो जाने पर फिर कार्य का कोई महत्व नहीं रहता। जिसके कारण आपने क्रोध किया उस अपने शरणागत भक्त प्रह्लाद पर कृपा कीजिये सौम्य दृष्टि से देख कर आश्वासन दीजिये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने ऐसा क्रोध पहिले तो कभी किया नहीं। एक असुर के निमित्त इतना अधिक क्रोध तो कुछ असंगत प्रतीत होता है भगवान् के सम्मुख वह कीटपतङ्ग तुच्छ दैत्य था ही क्या, उसे मार कर भी भगवान् शान्त क्यों नहीं हुए?"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ सूत जी बोले—"महाभाग! भगवान् को क्रोध दैत्य पर नहीं था। दैत्य उनके सम्मुख था ही क्या? क्रोध उन्हें इस बात पर आया कि इस दुष्ट ने मेरे भक्त को कैसी कैसी भीषण यातनायें दीं। भक्तवत्सलता के कारण ही भगवान् इतने अधिक क्रुद्ध हुए। सम्मुख भोले भाले प्रह्लाद को देखकर उनका क्रोध और भी उमड़ा, इस इतने सीधे बच्चे को दुष्ट ने कैसे कैसे कष्ट दिये। कुछ अपने ऊपर भी क्रोध था, मैं पहिले ही प्रकट क्यों नहीं हुआ। मुनियो! भगवान् तो कृपा के सागर हैं, उनका क्रोध भी भक्तों के ही निमित्त होता है और वह वरदान के ही समान है।"

नारदजी धर्मराज से कहते हैं—"राजन ! जब ब्रह्माजी तथा शिवजी स्तुति कर चुके, और भगवान् ने उन्हें घुड़का नहीं तब तो औरों को भी साहस हुआ सभी स्तुति करने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

मृतक असुर कूँ निरखि उतरि सुर नभतैं आये।
नरहरि क्रोधित लखे विनय युत वचन सुनाये॥
विधि बोले हे विभो ! विश्व के तुमही करता।
पालन हू तुम करो अन्त होओ संहरता॥
शिव बोले अब क्रोध को, काम कहाँ केशव रह्यो।
करहु कृपा प्रह्लाद पै, अधम असुर तो मरि गयो॥



आगे की कथा एकइसवें खण्ड में पढ़िये

श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी जी लिखित कुछ अन्य पुस्तकें जो हमारे यहाँ मिलती हैं—

१—बदरीनाथदर्शन—ब्रह्मचारीजी ने चार-पाँच बार श्रीबदरी नाथ जी की यात्रा की है वहाँ के छोटे बड़े सभी स्थानों की यात्रा का वर्णन उपन्यासी ढँग से सरल रोचक भाषा में किया है। लगभग सवा चार सौ पृष्ठ की सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य ५ रु०।

२—महात्माकर्ण—दानवीर कर्णका रोचक खोजपूर्ण आलोचनात्मक जीवन, पृष्ठ ३४५ मूल्य २ रु० ७५ न० पै०।

३—मतवाली मीरा—भक्तिमती मीरा के सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन, जीवन तथा पदों की झाँकी पृष्ठ—२२४ मूल्य २ रु० मीरा का भाव पूर्ण चित्र।

४—श्री शुक—रङ्गमञ्च पर खेलने योग्य शिक्षाप्रद सरस धार्मिक नाटक—पृष्ठ १२५ मूल्य ५० न० पै०।

५—भागवती कथा की वानगी—पृष्ठ—८२ मूल्य ३१ न०पै०

६—मेरे महामना मालवीय तथा उनका अंतिम संदेश—मालवीय जी के दुखद संस्मरण पृष्ठ १०४ मूल्य ३१ न० पै०।

७—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु-हिन्दु बन सकते हैं, इस महत्व पूर्ण प्रश्न का शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ ७५ मूल्य ३१ न० पै०।

८—शोक शान्ति—श्री ब्रह्मचारी जी का एक परम कृपा पात्र त्रिवेणी डूबकर मर गया था। उसके सुखद संस्मरण, तथा उसके पिता के लिये लिखा हुआ तत्व ज्ञान पूर्ण मनोरञ्जक पत्र। पृष्ठ ६४ मूल्य ३१ न० पै०।

सब पुस्तकें मिलने का पता—

व्यवस्थापक संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँ मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६८ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५ "

३—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ ४.०० "

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३५६ मू२२.७५ "

५—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.०० "

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्ध में उठने वाली तर्कों का युक्तियुक्तपूर्ण विवेचन। मू० ०.५० "

७—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०

८—भागवती कथा की बानगी—(आरम्भ के तथा अन्य खण्डों के कुछ पृष्ठों की बानगी) पृष्ठ सं० १०० मू० ०.२५ "

९—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१ "

१०—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण पृ० सं० १३० ०.२५ "

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं इसका शास्त्रीय विवेचन पृ० सं० ७६ मू० ०.३१ "

१२—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२ "

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.६ "

१४—राघवेन्दु चरित—भागवतचरित से ही पृथक् छापागया है मू० ०.३१ "

१५—प्रभुपूजा पद्धति—पूजा करने की सरल शास्त्रीय विधि मू० ०.१९ "

१६—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें प्रथम खंड का मू० १.०० "

१७—भागवत चरित की बानगी—भागवत चरित के कुछ अध्यायों की बानगी—मू० ०.२५ "

१८—गोविन्ददामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१९ "

१९—कृष्ण चरित—मू० २.०० "

२०—गोपीगीत—(मूल तथा हिन्दी पद्य सहित) अमूल्य।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग